[इन्टरमीडियेट-बोर्ड द्वारा समाजशास्त्र के लिए
स्वीकृत पुस्तक]

भारतीय-सामाजिक-संगठन

[INDIAN SOCIAL ORGANISATION]

लेखक
विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

[संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण]

मूल्य तीन रुपया

द्वितीय संस्करण] [१९६०

प्रकाशक :
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी,
विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून।

मुद्रक :
सुरेन्द्रनाथ गुप्ता,
सरस्वती प्रेस,
देहरादून

इन्टरमीजियेट सोशियोलोजी के लिये—पेपर (A)

४. प्रारम्भिक-समाजशास्त्र

[Elements of Sociology]

ले०—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

१६५८ से इन्टरमीजियेट में भी 'समाजशास्त्र' का विषय पढ़ाया जा रहा है। इस सम्बन्ध में समाजशास्त्र के माने हुए विद्वान् प्रो० सत्यव्रत जी ने हाल ही में दो पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से प्रथम-पत्र की पुस्तक का नाम "प्रारम्भिक-समाजशास्त्र" है। इस पुस्तक की विषय-सूची यहाँ दी जा रही है जिससे स्पष्ट हो जायगा कि यह पुस्तक समाज-शास्त्र के प्रारम्भिक-ज्ञान के लिये अद्वितीय है। बोर्ड द्वारा इसे स्वीकृत किया गया है। यह पुस्तक का संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण है।

[प्रथम प्रश्न-पत्र]

१. समाजशास्त्र का स्वरूप तथा विषय-क्षेत्र (Nature and Scope of Sociology).
२. समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक-विज्ञानों के साथ सम्बन्ध (Relation of Sociology with other Social Sciences—Economics, Psychology and Political Science).
३. समाज, समुदाय तथा समिति की परिभाषाएँ (Definitions of Society, Community, Association).
४. जाति तथा श्रेणी (Caste and Class).
५. परिवार का संगठन—रचना तथा कार्य (Family Organisation —Structure and Functions).
६. विवाह—रचना तथा कार्य (Marriage—Structure and Functions).
७. पर्यावरण तथा उसका सामाजिक-जीवन पर प्रभाव (Environment and its effects on social life).
८. भौगोलिक-पर्यावरण (Geographical Environment).
९. सांस्कृतिक-पर्यावरण (Cultural environment).
१०. व्यक्ति तथा समाज (Individual and Society).
११. सामाजिक-विघटन (Social Disorganisation).
१२. अपराध (Crime).
१३. किशोरापराध (Juvenile Delinquency).
१४. निर्धनता—कारण तथा निवारण (Poverty—Causes and Cures).
१५. बेकारी—कारण तथा निवारण (Unemployment—Causes and Cures).

इस पुस्तक का दाम तीन रुपया आठ आना है

बी० ए० सोशियोलोजी पार्ट I—पेपर I और II के लिये

[इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १००० रुपया
तथा अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा १२००)
मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।]

नवीन परिवर्धित तृतीय संस्करण

६. समाज़शास्त्र के मूल-तत्व

(बी० ए० के प्रथम तथा द्वितीय प्रश्न-पत्रों के लिए)

[Elements of Sociology]

(लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

समाज-शास्त्र के मूल-तत्व पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, परन्तु उन सबमें से प्रामाणिक तथा सर्व-मान्य पुस्तक प्रो० सत्यव्रत जी का 'समाज-शास्त्र के मूल तत्व' ही है। इस पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से प्रमाणित है कि उत्तर-प्रदेश की सरकार ने बी० ए० के लिये अपने विषय की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक होने के कारण इस पर १०००) रुपये का और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२००) का पारितोषिक दिया है।

पुस्तक का पहला तथा दूसरा सस्करण समाप्त हो चुका है। अब पुस्तक का तृतीय सशोधित नवीन-संस्करण प्रकाशित हुआ है जिसमे पहले दोनो सस्करणो की अपेक्षा नया मैटर बढ़ाया गया है।

इस पुस्तक के विषय मे एक विद्यार्थी ने लिखा था—'यदन्यत्र तदिहास्ति यदिहास्ति न तत्क्वचित्'—जो दूसरी किसी पुस्तक में है वह तो इसमें है ही, जो इसमें है वह किसी पुस्तक में नही है।

मूल्य बारह रुपया आठ आना।

बी० ए० सोशियोलोजी पार्ट II के लिये

७. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा
[Social-Welfare and Security]

भूमिका-लेखिका—श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख,
अध्यक्षा केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड

(लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

आज का युग समाज-कल्याण का युग है। समाज-कल्याण का आधार क्या है? समाज-कल्याण किसे कहते हैं?—ये सब विषय आज विश्व-विद्यालयों के छात्रों को पढ़ाये जा रहे हैं। समाज-शास्त्र की बी० ए० तथा एम० ए० की पाठ-विधि में समाज-कल्याण एक विषय है, परन्तु इस पर अभी तक कोई प्रामाणिक पुस्तक नहीं थी। प्रो० सत्यव्रत जी ने इस कमी को पूरा कर दिया है। जहाँ-जहाँ भी समाज-सेवक तैयार किये जा रहे हैं, वहाँ-वहाँ इस पुस्तक के आधार पर इस विषय की सुन्दर विवेचना की जा सकती है। इस पुस्तक द्वारा बी० ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियों की 'समाज-कल्याण'-सम्बधी समस्या पूर्णरूप से हल हो गई है। पुस्तक में ४० के लगभग अध्याय हैं और ६५० के लगभग पृष्ठ हैं। बड़े साइज की कपड़े की सजिल्द पुस्तक का दाम केवल बारह रुपया आठ आना रखा गया है। यह पुस्तक का द्वितीय संस्करण है।

८. मानव-शास्त्र

लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

यह पुस्तक एम० ए० (आगरा विश्वविद्यालय) के द्वितीय-पत्र (Social Anthropology) के लिये लिखी गई है। इस ग्रन्थ के कुछ अध्याय बी० ए० पार्ट II के प्रथम-पत्र के लिये भी बहुत उपयोगी हैं। इस पुस्तक में विभिन्न विश्वविद्यालयों की पाठ-विधि के अनुसार ३१ अध्याय क्रमबद्ध हैं। विषय को सुबोध बनाने के लिये स्थान-स्थान पर ५० चित्र भी दिए गये हैं।

बढ़िया कागज पर ६४० पृष्ठों की—पूरी कपड़े की बढ़िया जिल्द सहित इस पुस्तक का मूल्य १२॥) है।

९. ब्रह्मचर्य-सन्देश

भूमिका-लेखक

श्री १०८ स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

(पुस्तक-लेखक—विद्यामार्तण्ड श्री प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार)

नवयुवको को ब्रह्मचर्य-जैसे गम्भीर विषय पर सरल, सुन्दर भाषा में जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक मे कह दिया गया है। स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। खण्डवा का कर्मवीर पत्र लिखता है—"सबसे अधिक खोजपूर्ण, सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक ज्ञातव्य विषयों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।" इस पुस्तक मे ८–१० चित्र आर्ट-पेपर पर दिए गए हैं जिनका ब्रह्मचर्य जैसे कठिन विषय को समझने के साथ विशेष सम्बन्ध है। पुस्तक के तीन सस्करण समाप्त हो चुके हैं, यह चौथा सस्करण है। इस पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि गुजराती मे इसके दो स्वतन्त्र अनुवाद हो चुके हैं। अग्रेजी मे ग्रन्थकर्ता ने स्वय इसका अनुवाद किया है, जिसके कई सस्करण निकल चुके हैं। अनेक नवयुवको ने इस ग्रन्थ को पढ़कर लिखा है कि क्या ही अच्छा होता, कुछ दिन पहले यह पुस्तक मेरे हाथ पड़ जाती और मैं जीवन-मार्ग में पथ-भ्रष्ट होने से बच जाता। बड़े भाई को छोटे के, पिता को पुत्र के और नवयुवकों के शुभचिन्तकों को अपने अभिभावको के हाथ में देने के लिए इससे उत्तम दूसरी पुस्तक नही हो सकती। कोई भी पुस्तकालय इस पुस्तक के बिना अधूरा है।

कपड़े की सजिल्द पुस्तक का मूल्य साढ़े चार रुपया।

सेकसरिया-पारितोषिक-प्राप्त-ग्रन्थ

१०. स्त्रियों को स्थिति

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी०टी० (एम. पी)

इस पुस्तक की लेखिका को इस पुस्तक के लिखने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इलाहाबाद ने सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर ५०० रुपये का 'सेकसरिया-पुरस्कार' दिया था। इस पुस्तक मे स्त्रियों सम्बन्धी प्रश्नो पर बिल्कुल मौलिक ढग से विचार किया गया है। पुस्तक की विचार-धारा में एक प्रवाह है जो साहित्यिक-पुस्तकों में कम देखने में आता है। यह पुस्तक का नवीन सस्करण है, और पहले संस्करणों की अपेक्षा कई नवीन विषय इस संस्करण में बढ़ा दिये गये हैं। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्री को, पति अपनी पत्नी को और भाई अपनी बहिन को भेंट दे, तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नही हो सकती। पुस्तक पर कपड़े की सुन्दर जिल्द है। दाम चार रुपया मात्र।

११. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

(लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

दैनिक हिन्दुस्तान अपने १० जनवरी १९५४ के अंक में लिखता है—"हम तो यहाँ तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक-मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन करना चाहिये। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शैली, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डॉ० राधाकृष्णन से टक्कर लेती है। आज के देश के अंग्रेजीमय वातावरण में यदि इस पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद करा दिया जाय, तो पुस्तक विशेष लोकप्रिय होगी।"

नव-भारत टाइम्स अपने १० दिसम्बर १९५३ के अंक में लिखता है—"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठकर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय, तो अत्युक्त न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

साप्ताहिक हिन्दुस्तान अपने ३ जनवरी १९५४ के अंक में लिखता है—"हमारी सम्मति में आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में आज तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें प्रो० सत्यव्रत जी की लिखी इस पुस्तक का बहुत ऊँचा स्थान है। समग्र पुस्तक गहन विषयों को सरल भाषा में व्यक्त किये गए विचारों से भरी पड़ी है। आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में इस प्रकार की मार्मिक-विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखने में आई है। जो लोग आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना चाहें, उनका ज्ञान इस पुस्तक को पढ़े बिना अधूरा रहेगा।"

पुस्तक की विषय-सूची

सजिल्द पुस्तक का मूल्य चार रुपया

धारावाही हिन्दी में सचित्र

१२. एकादशोपनिषद्

(मूल-सहित)

भूमिका-लेखक

भारत के उपराष्ट्रपति श्री डॉ० राधाकृष्णन

(लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार)

आर्य-संस्कृति के प्राण उपनिषद् है। उपनिषदों के अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादों से विशेषता रखता है। इस अनुवाद में हिन्दी को प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृत के बखेडे में न पड़ कर उपनिषद् का तत्व ग्रहण करना चाहे, वह सिर्फ हिन्दी भाग पढ जाय। कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरह की कोई उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरो मे हिन्दी भाग दिया गया है, जो हिन्दी तथा मूल-सस्कृत की तुलना करना चाहे उसके लिए अंक देकर नीचे सस्कृत-भाग भी दे दिया गया है। फुट-नोट मे दिये सस्कृत-भाग को छोड़ कर जो सिर्फ हिन्दी में पढ़ना चाहे वह धारावाही हिन्दी-भाग को पढता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कही, किसी तरह का अटकाव नही आएगा। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनुवाद मे मक्खी-पर-मक्खी मारने की कोशिश नही की गई, विषय को खोलकर रख दिया गया है। साधारण पढ़े- लिखे लोगों तथा सस्कृत के अगाध पडितो—दोनों के लिए यह नवीन ढंग का ग्रन्थ है। यही इस अनुवाद की मौलिकता है।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई है। इन सभी उपनिषदो का धारावाही हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में मूल-सहित दे दिया गया है। पुस्तक को रोचक बनाने के लिए जगह-जगह चित्र भी दिये गये है। बढिया कपडे की सजिल्द पुस्तक का मूल्य बारह रुपया।

इन पुस्तकों के मंगाने का पता

विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी

विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून।

भारतीय-सामाजिक-संगठन
[Indian Social Organisation]
विषय-सूची

भूमिका

प्रत्येक शास्त्र का एक 'विचारात्मक' (Theoretical) तथा दूसरा 'क्रियात्मक' (Practical) पहलू होता है। विचारात्मक-पहलू में उस शास्त्र के सिद्धान्तों का, मूल-तत्वो का वर्णन होता है, क्रियात्मक-पहलू में उन सिद्धान्तो ने क्या रूप धारण किया—इसका वर्णन होता है। समाज-शास्त्र के भी इसी प्रकार दो पहलू हैं। समाज-शास्त्र के 'विचारात्मक' पहलू का वर्णन हमने अपने 'प्रारम्भिक-समाजशास्त्र' ग्रन्थ में किया है, उसके 'क्रियात्मक' पहलू का वर्णन हम 'भारतीय-सामाजिक-संगठन'—इस प्रस्तुत ग्रन्थ में कर रहे हैं।

समाज-शास्त्र के जो आधार-भूत सिद्धान्त हैं, वे तो हर देश और हर काल मे एक-से रहते हैं, परन्तु इन सिद्धान्तो का क्रियात्मक रूप हर देश में और हर काल में भिन्न-भिन्न होता है। क्योंकि हम भारत में रहते हैं, भारत में भी वर्तमान-काल में रहते हैं, इसलिए हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अपने देश में, और अपने देश में भी वर्तमान-युग में समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर क्या सामाजिक-संगठन बना और आज बन रहा है। हमारा जो 'भारतीय-सामाजिक-संगठन' बन चुका है, उसका कुछ थोड़ा-बहुत इतिहास भी है। इसी दृष्टि से इस ग्रन्थ में भारतीय-सामाजिक-संगठन की मुख्य-मुख्य बातों तथा उनके इतिहास को संक्षेप में दिया गया है। उदाहरणार्थ, भारत की जाति-व्यवस्था क्या है, यह व्यवस्था क्यों उत्पन्न हुई, आज इस जाति-व्यवस्था में क्या परिवर्तन हो रहे हैं, संयुक्त-परिवार-प्रथा क्या है, इसका वर्तमान रूप क्या है, इसके रूप में वर्तमान-युग में क्या परिवर्तन हो रहे हैं, विवाह पद्धति किन-किन परिवर्तनों में से गुजर चुकी है और आज गुजर रही है,

विधान-सभाओं में क्या नये-नये सामाजिक-विधान बन रहे हैं, हमारा ग्रामीण-सगठन क्या था, उसमें आज क्या परिवर्तन आ रहा है, भारत की आर्थिक-स्थिति में क्या-क्या परिवर्तन आ रहे हैं, आज हम अपने समाज का किस प्रकार नियोजन कर रहे हैं—इन सभी प्रश्नों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है ताकि हम समझ सकें कि समाज-शास्त्र के आधार-भूत सिद्धान्त अपने देश में क्या-क्या क्रियात्मक रूप धारण कर रहे हैं।

समाज-शास्त्र का गहराई से अध्ययन करने से पहले इस शास्त्र का सामान्य परिचय होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से उत्तर-प्रदेश के 'शिक्षा-बोर्ड' ने अब इस विषय को इण्टरमीजियेट-कक्षाओ में पढाने का पाठ्य-क्रम बनाया है। उसी पाठ्य-क्रम के अनुसार हमने जहाँ समाज-शास्त्र के सिद्धान्तो को स्पष्ट करने के लिए 'प्रारम्भिक-समाज-शास्त्र'-ग्रन्थ का प्रकाशन किया है, वहाँ इस शास्त्र के क्रियात्मक रूप को स्पष्ट करने के लिए 'भारतीय-सामाजिक-सगठन'—इस ग्रन्थ को भी प्रकाशित किया है। हमे पूर्ण आशा है कि यह ग्रन्थ समाज-शास्त्र के छात्रो के लिए ही नही, इस शास्त्र से सामान्य परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले अन्य पाठको के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा।

हमारे 'प्रारम्भिक-समाजशास्त्र' तथा 'भारतीय-सामाजिक-सगठन'—इन दोनों ग्रन्थों को उत्तर-प्रदेश के इन्टरमीजियेट-बोर्ड ने इन्टर के छात्रों के लिये पाठ्य-ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार किया है, और इन दोनो ग्रन्थों को छात्रों के लिये अधिक उपयोगी बनाने के लिये कुछ सुझाव दिये हैं। हमने इस द्वितीय संस्करण में उन सभी सुझाओं के अनुसार पुस्तक में संशोधन तथा परिवर्धन कर दिया है।

विद्या-विहार,
बलबीर ऐवेन्यू
देहरादून

—सत्यव्रत

भारतीय-सामाजिक-संगठन

[INDIAN SOCIAL ORGANISATION]

भारतीय-सामाजिक-संगठन

(Indian Social Organisation)

(द्वितीय-भाग)

१ जाति-व्यवस्था—आधारभूत-तत्व, कार्य, परिवर्तन (Caste sys'em —Characteristics, Function and Change).

२ जाति-व्यवस्था मे परिवर्तन के तत्व (Factors of Change in Caste System).

३ संयुक्त-परिवार—आधारभूत-तत्व, गुण-दोष, परिवर्तन (Joint-Family—Characteristics, Defects and Factors influencing Change).

४ विवाह के प्रकार (Forms of Marriage)

५ सामाजिक-विधान तथा उसका विवाह पर प्रभाव (Social Legislation and its effect on Marriage).

६ ग्राम-संगठन (Village-Communities).

७ ग्राम-पंचायत (Village-Panchayat).

८. भारत की निर्धनता—कारण तथा निवारण (Indian Poverty—Causes and Remedies).

९ भारत मे आयोजन (Planning in India).

१० भारत में सामाजिक कल्याण (Social Welfare in India).

११ परिशिष्ट

१

जाति-व्यवस्था

(CASTE SYSTEM)

जाति-व्यवस्था केवल भारत की उपज है। यह अन्य किसी देश में इस ढङ्ग से नही पायी जाती जिस ढङ्ग से अपने देश में पायी जाती है। इसका अपने यहा क्रमिक विकास हुआ है। जाति-व्यवस्था के समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किस क्रम में से गुज़रती-गुज़रती यह वर्तमान रूप में पहुँची है।

जाति-व्यवस्था की आधार-भूत भावना है—मनुष्य का मनुष्य से भेद। आज तो सब प्रकार के भेद-भाव को मिटाने का यत्न हो रहा है। जन्म के भेद-भाव को मिटाने के लिए जन्म के आधार पर किसी को ऊचा या किसी को नीचा मानने की भावना का सुधारकों की तरफ़ से ही नही, शासकों की तरफ़ से भी कानून द्वारा नाश किया जा रहा है। कर्म के द्वारा जो भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है, कोई मेहनत करके अमीर हो जाता है कोई मेहनत न कर सकने के कारण ग़रीब रह जाता है—इस स्थिति को भी बदलने का प्रयत्न हो रहा है, सब की स्थिति बराबर की हो—ऐसे उद्योग हो रहे हैं। परन्तु शुरू में ऐसा नहीं था। शुरू में भारतीय-समाज में क्या था—यही हमें देखना है।

१. प्रारम्भिक व्यवस्था 'वर्ण-व्यवस्था' थी जिसका आधार 'कर्म' था

(क) आर्य और दास—भारत की प्रारम्भिक सामाजिक-व्यवस्था में समाज को दो भागो मे बाटा गया था—'आर्य' तथा 'दास'। ये दोनो विभाग जन्म पर आश्रित नही थे। सदाचारी व्यक्ति को 'आर्य' तथा दुराचारी व्यक्ति को 'दास' कहा जाता था। 'दास' तथा 'दस्यु' का एक ही अर्थ था। 'दास' या 'दस्यु'-शब्द 'दसु उपक्षये'—इस धातु से बना है। उपक्षय—अर्थात् नाश करना। जो हर प्रकार की सामाजिक-व्यवस्था को तहस-नहस करते थे, वे दास या दस्यु कहलाते थे। आजकल भी सस्कृत-भाषा मे 'दस्यु' का अर्थ है—चोर.। इस दृष्टि से 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग जन्म पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित था।

शुरू-शुरू में 'आर्य' तथा 'दास' को ही 'वर्ण' कहा जाता था। उस समय के समाज मे ये दो वर्ण थे, एक तरह से समाज के ये दो विभाग थे—अच्छे लोग और बुरे लोग। बुरे लोगो को—दासो को—दण्ड दिया जाता था। ऋग्वेद २-१२-४ मे लिखा है—'यो दास वर्ण अधर गुहा अक:'—अर्थात्, जो दास-वर्ण को गुफ़ा के नीचे कैद कर देता है। चोरो और दुराचारियो को कैदखाने मे डाला ही जाता है—यही बात इस वेद-मंत्र मे लिखी है। कई पाश्चात्य-लेखको का मत है कि 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग जन्म पर आश्रित था। 'आर्य' लोग बाहर से भारत में आये थे। यहा के मूल-निवासियो को 'दास' कहते थे। दोनो की नस्ल अलग-अलग थी, दोनो का जन्म-गत भेद था, रुधिर का भेद था। परन्तु यह विचार भ्रम-मूलक है। 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग जन्म पर आश्रित नही था, कर्म पर था—यह स्थापना इस बात से भी पुष्ट होती है क्योंकि ऋग्वेद ९-६३-५ में लिखा है—'कृण्वन्तो विश्व आर्यम्'—अर्थात्, सारे विश्व को आर्य बनाओ। सारे विश्व को आर्य तभी बनाया जा सकता है, अगर 'आर्य' तथा दास' का भेद जन्म या नस्ल पर आश्रित न होकर

कर्म पर आश्रित हो, सदाचारी को 'आर्य' कहा जाता हो, दुराचारी को 'दास' या 'दस्यु' ! बौद्ध-ग्रन्थ मज्झिम-निकाय ९३ के पढने मे भी यही बात पुष्ट होती है। वहा लिखा है—"हे आश्वलायन ! क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमान्त देशो में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास। आर्य दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है।"

'आर्य' तथा 'दास' को 'वर्ण' कहा जाता था। ऋग्वेद में 'यो दासं वर्ण'—यह आया है, अर्थात् 'दास' तथा 'आर्य' ये दोनो 'वर्ण' थे। कई पाश्चात्य-विद्वान् वर्ण' का अर्थ रग करते हैं। उनका कहना है कि गोरे रग के 'आर्य' थे, काले रग के 'दास' थे, परन्तु वेदो मे कही आर्यो को गौर और दासो को कृष्ण वर्ण का नही कहा गया, अत यह विचार भी भ्रम-मूलक है। 'वर्ण'-शब्द 'वृञ् वरणे' धातु से बना है। वरण करना—अर्थात् चुनना। यह व्यक्ति की इच्छा पर है कि वह सदाचार के जीवन को चुने, 'आर्य' बने, या दुराचार के जीवन को चुने, 'दुराचारी' बने। 'वर्ण'-शब्द भी इस बात को सिद्ध करता है कि शुरू-शुरू मे भारत की सामाजिक-व्यवस्था जन्म पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित थी, और जो जिस प्रकार के जीवन को चुनता था वह अपने कर्म से आर्य या दास वर्ण का कहलाता था।

(ख) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद—वैदिक-काल में 'आर्य' तथा 'दास' के सामाजिक-विभाग के साथ-साथ एक और सामाजिक कल्पना ने जन्म लिया। वह कल्पना थी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद के विचार की कल्पना। जैसे शरीर मे सिर का काम ज्ञान-प्रधान है, हाथो का काम रक्षा-प्रधान है, उदर का काम सचय-प्रधान है, टागो का काम श्रम-प्रधान है, उसी प्रकार समाज के शरीर की भी व्यवस्था है। कुछ लोग पढाने-लिखाने का काम करते हैं, उन्हे यहां के समाज-शास्त्रियों ने 'ब्राह्मण' का नाम दिया, कुछ लोग देश की रक्षा करते हैं, उन्हे 'क्षत्रिय' कहा, कुछ वणिज-व्यापार करते हैं, उन्हे 'वैश्य' कहा,

कुछ विशेष योग्यता न होने के कारण सेवा-कार्य करते हैं, मेहनत-मजदूरी करते हैं, उन्हे 'शूद्र' कहा, कुछ ऐसे भी होते हैं जो किसी काम को नहीं कर सकते, सर्वथा निकम्मे और अपाहिज होते हैं, उन्हे 'निषाद' कहा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के 'कर्म' करने के कारण समाज को उस समय पाच भागो में बाटा गया। इसीलिए मानव-समाज के लिए वेद मे 'पचजना'—'पचकृष्टय'—'पचमानवा.'—ये शब्द आये हैं। इन सभी का अर्थ है—पाच प्रकार के मनुष्य। 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग तो आचार-परक (Ethical) था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद का विभाग कर्म-परक (Professional) था। ऋग्वेद के १०वे मण्डल में लिखा है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य कृत. उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रोऽजायत्'—समाज रूपी शरीर के ब्राह्मण मुख हैं, क्षत्रिय बाहू हैं, वैश्य उरू हैं, पाव शूद्र है। यह विभाग जन्म के आधार पर तो किया नही जा सकता। इसका यही अभिप्राय नो हो सकता है कि जो मुख काम करता है समाज में वह काम जो करे वह ब्राह्मण है, जो हाथ काम करते हैं समाज मे वह काम जो करे वह क्षत्रिय है, पेट का—सचय का—जो काम करे वह वैश्य है, पाव का, मेहनत का जो काम करे वह शूद्र है। इसका मतलब यही हुआ कि वेदो मे जिस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का वर्णन है उसका आधार कर्म है, जन्म नही।

२. वर्ण-व्यवस्था के बाद की व्यवस्था 'जाति-व्यवस्था' थी जिसका आधार 'जन्म' था

[वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था में भेद]

'वर्ण-व्यवस्था' तथा 'जाति-व्यवस्था' में भेद है। वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था का विचार उत्पन्न हुआ, जिसे पीछे के काल मे क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया गया, और वह जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर गया। वर्ण-व्यवस्था का विचार आर्य तथा दस्यु के रूप मे समाज का 'आचार-परक' (Ethical) तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,

निषाद् के रूप में 'कार्य-परक' (Professional) वर्गीकरण था। आचार की दृष्टि से आर्य तथा दास और कार्य की दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद। इस विचार में जन्म से वर्गीकरण की कोई बात नहीं थी। अगर कोई पढ़ाता-लिखाता था, तो जैसे आजकल उसे अध्यापक कहते हैं, वैसे उस समय उसे ब्राह्मण कह देते थे; अगर कोई सेना में भर्ती होता था, तो जैसे आजकल उसे सिपाही कहते हैं, वैसे उस समय उसे क्षत्रिय कह देते थे। जैसे अध्यापक सेना में भर्ती के बाद सिपाही बन जाता है, वैसे ब्राह्मण शस्त्र चलाने का काम शुरू कर दे तो क्षत्रिय हो जाता है। ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण होता है, क्षत्रिय जन्म से ही क्षत्रिय होता है—ऐसी कोई बात वैदिक काल में नही थी। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का विभाग उस समय एक 'विचारात्मक-वर्गीकरण' (Theoretical classification) था, और कुछ नही। वैदिक-काल के पीछे के काल मे यह कर्म पर आश्रित न होकर जन्म पर आश्रित माना जाने लगा और तब यह समाज का 'विचारात्मक-वर्गीकरण' न रह कर 'क्रियात्मक-वर्गीकरण' (Practical classification) हो गया। वर्ण-व्यवस्था का विचार एक लचकीला विचार था, यह एक तरह का दार्शनिक वर्गीकरण था, इसके मानने-न-मानने से किसी का कुछ बनता-बिगडता न था, परन्तु वही विचार जब जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर गया, तब वह अपने लचकीलेपन को खोकर एक कठोर चीज बन गया, इसे जन्म पर आश्रित माना जाने लगा, यह दार्शनिक-वर्गीकरण ही न रहकर एक ठोस, क्रियात्मक रूप धारण कर गया, किसी खास जाति का होना व्यक्ति के बनने-बिगडने का कारण बन गया।

३. जाति का अर्थ या उसकी परिभाषा
(Concept of Caste or its Definition)

जैसा हमने पहले कहा, भारतीय-सामाजिक-व्यवस्था में 'वर्ण'-व्यवस्था पहले प्रचलित थी, उसके बाद 'जाति'-व्यवस्था प्रचलित हुई। इन दोनों

का भेद हम दर्शा आये हैं। सदियो मे हमे 'जाति'-व्यवस्था से ही सामना करना पड़ा है। 'जाति'-व्यवस्था मे 'जाति'-शब्द का क्या अर्थ है, 'जाति' की क्या परिभाषा है—यह जानना हमारे लिये आवश्यक है। इसी सम्बन्ध में हम यहा कुछ चर्चा करेंगे।

[१] **केतकर की परिभाषा**—केतकर का कथन है कि 'जाति' एक ऐसा सामाजिक समुदाय है जिसकी दो विशेषतायें हैं—(क) इसके सदस्य वही होते हैं जो इस मे पैदा होते हैं, (ख) इसके सदस्य इनके अपने सामाजिक-नियमो के आधार पर अपने समुदाय के बाहर विवाह नही कर सकते।

[२] **मजूमदार तथा मदन की परिभाषा**—"आवृत-श्रेणी जाति कहलाती है।" (श्रेणी या वर्ग का आधार अमीरी-गरीबी है। अमीर गरीब हो सकता है, गरीब अमीर हो सकता है। परन्तु जाति का आधार अमीरी-गरीबी न होकर जन्म है। जो जन्म से ब्राह्मण हुआ वह ब्राह्मण ही रहेगा। इसी को 'आवृत'—closed—कहते हैं, यह व्यवस्था खुली न होकर बन्द है। यही जाति व्यवस्था है—ऐसा मजूमदार तथा मदन का कथन है)।

उक्त परिभाषाए बहुत-कुछ ठीक हैं, परतु 'जाति' के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालती हैं। इन परिभाषाओ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विद्वानो ने 'जाति' की, सब पहलुओं को लेकर, व्याख्या करने का प्रयत्न किया है जो फिर भी कुछ-न-कुछ त्रुटि-पूर्ण है। इनमे से पाश्चात्य-विद्वानो के दो-एक प्रयासो का हम यहा उल्लेख कर रहे हैं :—

---

[1] "Caste as a social group has two characteristics : (a) Membership is confined to those who are born of members and includes all persons so born, (b) the members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group."—Ketkar.

[2] "A caste is a closed class".—Mazumdar and Madan.

[३] **रिजले की परिभाषा**—रिजले (Risley) का कहना है कि जाति परिवारों के उस समूह को कहते हैं जो एक काल्पनिक पूर्वज से वंश-परम्परा द्वारा चला आता है, यह पूर्वज कोई काल्पनिक मनुष्य या काल्पनिक देवता होता है। इस परिवार-समूह के व्यक्ति एक ही नाम से व्यक्त होते हैं, एक ही व्यवसाय करते हैं।

रिजले की परिभाषा दोष-पूर्ण है क्योंकि इसमें 'गोत्र' तथा 'जाति' को एक ही परिभाषा में मिला दिया गया है। गोत्र में तो किसी एक काल्पनिक मनुष्य या काल्पनिक देवता को परिवार-समूह का पूर्वज माना जाता है, जाति में नही।

[४] **ब्लन्ट की परिभाषा**—ब्लण्ट (Blunt) का कहना है कि 'जाति' एक ऐसा अन्तर्विवाह करने वाला समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता वंश से वंश मे चली आती है; जो अपने सदस्यों पर कुछ सामाजिक-प्रतिबन्ध लगाता है, जो परम्परा-गत व्यवसाय को करते हैं, जो अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से मानते हैं, जिनका एक सजातीय-समुदाय होता है।

ब्लण्ट की परिभाषा में भी एक ही पूर्वज से उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसमें सन्देह नही कि अनेक जातियों में एक पूर्वज से उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है, परन्तु इसे अखंड नियम नही कहा जा सकता। अनेक जातिया किसी पूर्वज का वर्णन नही करतीं।

[५] **कूले की परिभाषा**—कूले (Cooley) का कहना है कि जब एक श्रेणी अथवा वर्ग वंश-परंपरा पर आश्रित हो जाता है, तब उसे 'श्रेणी' या 'वर्ग' कहने के स्थान में 'जाति' कहते हैं।

कूले की परिभाषा 'वर्ग' तथा 'जाति' के भेद को तो प्रकट करती है, परन्तु 'जाति' की पृथक् तथा स्पष्ट व्यवस्था नहीं करती।

---

[5] "When a class is somewhat strictly hereditary we call it a caste"—Cooley.

[६] **भारतीय-शास्त्रों की परिभाषा**—भारतीय-शास्त्रों की दृष्टि से इस शब्द पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है। एक है व्याकरण का पहलू, दूसरा है इस शब्द की भिन्न-भिन्न स्थलो में व्याख्या का पहलू। व्याकरण के अनुसार 'जाति' शब्द 'जनि प्रादुर्भावे'—इस धातु से बना है। प्रादुर्भाव का अर्थ है—प्रकट होना, उत्पन्न होना। जन्म, जननी, जनक आदि शब्द इसी धातु से बने है। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से 'जाति' का सबध 'जन्म' से स्पष्ट प्रतीत होता है। 'जाति' पूछने का अर्थ है—'जन्म' के सबध मे पूछना। व्याकरण के अतिरिक्त दूसरा पहलू है भारतीय-ग्रन्थो मे इस शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ। न्याय-दर्शन मे जाति का लक्षण करते हुए कहा है—'समान प्रसवात्मिका जाति.'—अर्थात्, जहा अपने समान प्रसव हो, अपने समान सतान उत्पन्न हो, वहा 'जाति'-शब्द का प्रयोग होगा—अपने समान उत्पन्न करने को 'जाति' कहते हैं। मनुष्य मनुष्य को उत्पन्न करता है, कुत्ते कुत्ते को और गाय गाय को। इस दृष्टि से मनुष्य की अपनी जाति है, कुत्ते की अपनी जाति है, गाय की अपनी जाति है। अपने समान उत्पन्न करने का अर्थ है—अपने समान शक्ल-सूरत। इस व्याख्या के अनुसार मनुष्य को तो 'जाति' कहा जा सकता है, परतु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को जाति नही कहा जा सकता क्योकि जब कोई प्राणी अपने समान दूसरे प्राणी को उत्पन्न करता है तब उसे शक्ल-सूरत से ही पहचान लिया जाता है। ब्राह्मण की सन्तान को शक्ल-सूरत से ब्राह्मण के तौर पर नही पहचाना जा सकता, ना ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को। व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र—इन दोनों की व्याख्याओं के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को 'जाति' नही कहा जा सकता, फिर भी इन्ही के लिये अपने देश मे 'जाति'-शब्द का प्रयोग होता रहा है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही हो सकता है कि शुरू शुरू मे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का विभाजन जन्म-परक नही था, परतु पीछे कभी जाकर इन्हे जन्म-परक माना जाने लगा और ये विभाग जो वैदिक-

काल मे 'आचार-परक' (Ethical) तथा 'कर्म-परक' या 'श्रम-विभाग-परक' (Professional or Division of Labour) थे, 'जन्म-परक' (Closed caste) बन गये।

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्याकरण तथा न्याय-दर्शन की परिभाषा के अनुसार भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को 'जाति' नही कहा जा सकता क्योंकि इनकी परिभाषाओ के अनुसार 'जाति' का अर्थ है अपने समान शक्ल-सूरत की सतान उत्पन्न करना, और अपने समान का अर्थ है दूसरो से भिन्न शक्ल-सूरत की सतान उत्पन्न करना। जैसे कुत्ता गाय से भिन्न सतान को उत्पन्न करता है, गाय भैंस से भिन्न सतान को उत्पन्न करती है, वैसे ब्राह्मण क्षत्रिय से भिन्न शक्ल-सूरत की सतान को नही उत्पन्न करता। फिर भी ब्राह्मण आदि के लिये 'जाति'-शब्द का प्रयोग पाया जाता है—इसका कारण यही है कि अपने देश मे बहुत पीछे जाकर जब जन्म को प्रधानता मिलने लगी तब 'जाति'-शब्द का इन चार 'वर्णों' के लिये भी प्रयोग होने लगा। जब 'जाति'-शब्द इन वर्णों के लिए प्रयुक्त होने लगा तब से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का आधार जन्म हो गया, वश-परम्परा हो गया, और इसका आधार 'प्रजननिक' (Genetic) माना जाने लगा। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि का जन्म-परक आधार मानने के बाद विवाह आदि के सबध में अनेक नियमो का निर्माण हुआ जिनमें 'अतर्विवाही'-'बहिर्विवाही' आदि नियम हैं जिनका अपने-अपने स्थान पर वर्णन किया जायगा।

'वर्ण-व्यवस्था' तथा 'जाति-व्यवस्था' की समानता तथा विषमता के विषय में जो अधिक जानना चाहे वे हमारे 'आर्य-संस्कृति के मूल-तत्त्व'-ग्रन्थ के 'वर्ण-व्यवस्था का अध्यात्मिक आधार'—इस अध्याय को पढें।

४. जाति-व्यवस्था के आधारभूत तत्व
(Characteristics of Caste)

वर्ण-व्यवस्था वैदिक-काल की उपज है, जाति-व्यवस्था ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा स्मृतियो के काल की उपज है। ऊपर हमने 'जाति' की

जो भिन्न-भिन्न व्याख्यायें दी उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'जाति' की व्याख्या या परिभाषा करने के स्थान मे 'जाति' के आधार-भूत मुख्य-मुख्य तत्वों को जान लेने से इसकी व्याख्या अधिक स्पष्ट हो जायेगी। इसीलिए जाति-व्यवस्था के आधारभूत तत्व क्या हैं—इस सम्बन्ध मे कुछ जान लेना आवश्यक है। जाति-व्यवस्था के आधार-भूत तत्व निम्न हैं—

(क) **जाति जन्म पर आश्रित होती है**—जब से जाति-व्यवस्था चली तब से यह माना जाने लगा कि जो व्यक्ति जिस जाति मे पैदा होता है वह आजन्म उसी जाति का रहता है, दूसरी जाति का नही हो सकता। जाति के अपने नियम बने होते हैं, उसके अपने रीति-रिवाज होते हैं। अगर कोई व्यक्ति उन नियमो या उन रीति-रिवाजो का उल्लंघन करता है, तो वह जाति-च्युत् कर दिया जाता है, जाति-से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जाति-च्युत् या जाति-बहिष्कृत करने का क्या अर्थ है ? इसका यह अर्थ है कि किसी जाति का होने से उसे जो अधिकार मिले हुए हैं वे उससे छीन लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक जात-बिरादरी के लोग इकट्ठा बैठकर हुक्का पी सकते हैं, एक साथ खा-पी सकते हैं। जाति के रीति-रिवाजो, जाति की प्रथाओ का उल्लंघन करने वाले का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है।

(ख) **जाति के लोग जाति में ही विवाह कर सकते हैं**—जो जिस जाति का है वह उसी जाति मे विवाह कर सकता है, दूसरी जाति में नही। ब्राह्मण ब्राह्मणो मे, क्षत्रिय क्षत्रियो में, वैश्य वैश्यो मे और शूद्र शूद्रो में ही विवाह कर सकते हैं, अपनी जाति से बाहर नही। इसे 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह करता है, तो उसकी सन्तान उत्तराधिकार की अधिकारी नही समझी जाती, हाँ, इतना अवश्य है कि ब्राह्मण अपने से नीच-कुल की कन्या ले सकता है, परन्तु नीच-कुल का पुरुष अपने से उच्च कुल की कन्या से विवाह नही कर सकता। ब्राह्मण का क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कन्या से या वैश्य का शूद्र कन्या से विवाह 'अनुलोम'

(Hypergamy)-विवाह कहलाता है; शूद्र पुरुष का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कन्या से, या वैश्य पुरुष का ब्राह्मण, क्षत्रिय कन्या से, या क्षत्रिय पुरुष का ब्राह्मण कन्या से विवाह 'प्रतिलोम' (Hypogamy)-विवाह कहलाता है। 'अनुलोम'-विवाह को जाति-व्यवस्था के नियम स्वीकार करते हैं, 'प्रतिलोम'-विवाह को स्वीकार नही करते। अब 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम—१६५५' के अनुसार विवाह के इस कानूनी बन्धन को हटा दिया गया है। अब कोई भी व्यक्ति किसी भी जाति में विवाह कर सकता है। 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' विवाह की बात को छोड भी दिया जाय, तो भी जाति-व्यवस्था के आधार-भूत तत्वों मे अपनी जाति मे ही विवाह करना एक मुख्य तत्व है। जब किसी व्यक्ति को जाति-च्युत् या जाति-बहिष्कृत किया जाता है, तब उसका हुक्का-पानी बन्द करने के साथ-साथ उसके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार भी बन्द कर दिया जाता है।

(ग) जाति के लोग अपनी जाति के हाथ का ही खा-पी सकते हैं—जो जिस जाति का है वह उसी जाति के हाथ का खा-पी सकता है, खासकर, कच्चा खाना तो दूसरी जाति के हाथ का खा ही नही सकता। नीच जाति के हाथ का बनाया हुआ भोजन खाने से जाति चली जाती है। ब्राह्मण बनिये के घर का कच्चा खाना नही खा सकता, पूरी-पराठे उडा सकता है। कच्चे मे ज़्यादा और पक्के मे कम छूत मानी जाती है। दूध, घी, हरी सब्जियां, फल, मेवा सब-कोई हर-किसी के हाथ का खा सकता है।

(घ) जाति-व्यवस्था का परिणाम अछूतपन है—जाति-व्यवस्था के आधार में मनुष्य का मनुष्य के साथ भेद-भाव है। मैं इस समूह का हूँ, उस समूह का नही हूँ—इस भावना से जाति-व्यवस्था की हर बात की शुरूआत होती है। परिणाम यह होता है कि जिनको मनुष्य अपने दायरे का नही समझता, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इसी कारण हिन्दुओं में जाति-व्यवस्था के परिणामस्वरूप अछूतपन का भाव उत्पन्न

हो गया है। जो अपने हैं, वे अपने, परन्तु जो अपने नही है, वे इतने पराये हो जाते हैं कि उनमें से कोई-कोई अछूत माने जाने लगते हैं। अब 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम–१९५५' के अनुसार अछूतपन को अपराध घोषित कर दिया गया है।

(ड.) जाति-व्यवस्था में पेशा भी निश्चित होता है—जाति-व्यवस्था में व्यक्ति का पेशा भी पैत्रिक परम्परा से आता है। पाधे का लडका पधियाई करता है, ग्वाले का लडका ग्वाले का काम, सुनार का लडका सुनार और लोहार का लडका लोहार। जिस प्रकार युरोप मे 'व्याव-सायिक-संघ' (Guilds) होते थे, इन सघो मे वश-परपरा से पेशा चला आता था, इसी प्रकार जाति-व्यवस्था मे पेशा वश-परपरा से चलता है। पेशे के वंश-परपरा से चलने का फायदा भी है। जो काम पीढी-दर-पीढी चलेगा, उसमे कार्य-कुशलता का होना स्वाभाविक है। जिन घरानो मे हिकमत पीढी-दर-पीढी चली आती है, उनमें हिकमत मे कुशलता भी दिखाई देती है। आज जाति-व्यवस्था के शिथिल हो जाने से व्यवसायो का खानदानो के साथ अब तक का चला आर हा संबध भी शिथिल होता जा रहा है।

५. जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

(Theories of the Origin of Caste)

जन्म से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्बध मे भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं, जिसमे से मुख्य-मुख्य मतो की हम यहा चर्चा करेंगे—

(क) हट्टन का आदिम-संस्कृति का परम्परात्मक-सिद्धांत (Hutton's Traditional theory of stratified social structure functioning in primitive Indian culture)—कई विद्वानो का कहना है कि जाति-व्यवस्था का सिद्धात भारत में परम्परा से चला आ रहा है। किस समय इस सिद्धात का प्रतिपादन हुआ—यह नही कहा जा सकता। हम खोज करते-करते जिस समय में भी पहुँचते हैं, वही पर किसी-न-

किसी प्राचीन-परम्परा के अनुसार यह पहले से चला आ रहा दीखता है। हम देख ही आये हैं कि वैदिक-काल में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के रूप मे इस सिद्धात की सत्ता थी। उसके बाद के काल में भी यह सिद्धात पाया जाता है। स्मृति-काल मे प्रत्येक स्मृति मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन जातियों का वर्णन है। हट्टन का कथन है कि भारत में आदि-काल से जाति का विचार चला आ रहा था। आज की असम की नागा जातियों मे भी एक प्रकार की जाति-व्यवस्था पायी जाती है। जाति-व्यवस्था के आधार-भूत तत्व भारतीय-समाज मे सदा से रहे हैं। आर्य लोग जब भारत मे आये तब उन्होंने यहा की प्रचलित जाति-व्यवस्था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि को पेशो का रूप दे दिया।

जहा तक परम्परा से जाति-व्यवस्था के चले आने का सम्बंध है, हम पहले लिख आये हैं कि जन्म से जाति-व्यवस्था के मानने का सिद्धात वैदिक-काल मे नही था। उस समय कर्म से वर्ण-व्यवस्था का सिद्धांत माना जाता था। मानव-समाज के जन्म से वर्गीकरण को भारत की आदि-कालीन परपरा नही कहा जा सकता। वह उत्तर-कालीन परम्परा है।

(ख) अबे डुबोय का राजनैतिक-सिद्धांत (Abbe Duboi's Political theory)—कुछ विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों की एक राजनैतिक-योजना थी। इस सिद्धात द्वारा उन्होंने अपने को दूसरो से उच्च सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यह एक प्रकार का दूसरों का शोषण था। इस युग मे भी तो हिटलर ने जर्मन-जाति के विश्व-भर की अन्य जातियों से श्रेष्ठ होने की घोषणा की थी। यही बात ब्राह्मणो ने अपने समय में की। उन्होंने अपने को अन्य सबसे श्रेष्ठ घोषित किया। इस सिद्धात का १९ वी शताब्दी के फ्रासीसी लेखक अबे डुबोय (Abbe Dubois) ने प्रतिपादन किया था। इबेटसन भी इसी सिद्धात को मानता था।

जहां तक दूसरे वर्गों का ब्राह्मणो द्वारा शोषण करने वाले इस राज-नैतिक-सिद्धात का सम्बंध है, यह कह सकता कठिन है कि ब्राह्मणो की इस बात को अन्य वर्गों ने कैसे मान लिया ? ब्राह्मणों ने कहा कि हम ऊंचे हैं, दूसरे नीचे हैं, और सब ने ब्राह्मणों की बात मान ली—यह कैसे हो सकता है ?

(ग) रिजले का प्रजातीय-सिद्धांत (Risley's Racial theory)—कुछ विद्वानो का कहना है कि जाति-व्यवस्था का सिद्धात प्रजाति अर्थात् नस्ल पर आश्रित है। आजकल भी कई लोग नस्ल के कारण अपने को दूसरो से श्रेष्ठ समझते हैं। इन विद्वानो के अनुसार नस्ल के कारण आर्य लोग अपने को दासो से श्रेष्ठ मानते थे। इनके अनुसार आर्य भारत के बाहर से आये थे, उन्होंने यहा के आदि-वासियो को जीता, उन्हें दास का नाम दिया। जब विजेता किसी देश को जीतता है, तब विजित देश की लडकियों को अपने मे खपाता है, परतु अपनी लडकियो को विजित देश के युवको को देने के लिए तैयार नही होता। इसी भावना से 'अनुलोम-विवाह' (Hypergamy) का अनुमोदन तथा 'प्रतिलोम-विवाह' (Hypogamy) का विजेता लोग निषेध करते हैं। अपने रक्त की शुद्धता बनाये रखने के लिए वे अपनी नस्ल के लोगो में ही विवाह करते हैं, जिसे सजातीय-विवाह और अतर्विवाह (Endogamy) कहते हैं। क्योंकि भारत की जाति-व्यवस्था मे ये तीनो बातें पाई जाती है, इसलिए इन विद्वानों का कथन है कि बाहर से आने के कारण आर्य लोगों ने प्रजातीय-सिद्धात के आधार पर जाति-व्यवस्था का निर्माण किया था। उन्होने आर्य और दास का, तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का प्रजातीय-विभाग अपने रक्त की शुद्धता रखने के लिए किया। इस प्रजातीय-सिद्धात के समर्थक अपने पक्ष की पुष्टि में यह भी कहते हैं कि 'वर्ण'-शब्द का अर्थ रग है। ब्राह्मणो की नस्ल गोरे रग की थी, दूसरे लोग काले थे, इसलिये अपनी नस्ल के वर्ण अर्थात् रग के आधार पर उन्होने वर्ण-व्यवस्था को जारी किया। ये सब विचार प्रमुख रूप से रखने वाले श्री एच० एच०

रिज़ले हैं। श्री डॉ० घुर्ये, प्रो० एन० के० दत्त तथा डॉ० मजूमदार भी इसी विचारधारा को मानते हैं। इस तरह की कुछ बात महाभारत-काल मे अपने देश के विद्वानों मे भी कभी चली होगी, क्योंकि महाभारत के शातिपर्व के १८८वें अध्याय के ५वें श्लोक में भृगु तथा भारद्वाज का सम्वाद आता है, जिसमें भृगु जी कहते है—'ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणा तु लोहित, वैश्याना पीतको वर्ण शूद्राणामसितस्तथा'—अर्थात्, ब्राह्मणो का सफ़ेद रग होता है, क्षत्रियो का लाल, वैश्यो का पीला तथा शूद्रो का काला।

जहा तक जाति-व्यवस्था का नस्ल के आधार पर चलने का सबध है, इसका मुख्य आधार इस बात पर निर्भर करता है कि क्या आर्य लोग बाहर से आकर यहा बसे थे, या यहीं के वासी थे। अगर आर्य बाहर से आकर बसे थे, तो आर्य तथा दास ये दोनों ही बाहर से ही आये होगे, क्योंकि आर्य तथा दास ये दो नस्लें न होकर सदाचारियों को आर्य तथा दुराचारियो को दास कहा जाता था। कई लोग आर्यों को बाहर का तथा दासो को यहाँ का वासी कहते हैं, परंतु यह बात बहुत विवादास्पद है कि आर्य बाहर से आकर यहाँ बसे थे और यहा के वासियों को वे दास कहते थे। श्री पी०टी० श्रीनिवास आयगार अपने 'माधवाचार्य भाष्य सहित यजुर्वेद' में लिखते हैं—"जिन मन्त्रो मे आर्य, दास और दस्यु शब्द आये हैं उनकी सावधानी से परीक्षा करने पर पता लगता है कि ये शब्द वश के या नस्ल के नहीं वरन् धर्म या मत के द्योतक हैं। ये शब्द सबसे अधिक ऋग्वेद में मिलते हैं। वहा 'आर्य'-शब्द ३४ बार आया है। ऋग्वेद मे कुल १,५३,९७२ शब्द हैं। इतने शब्दो में 'आर्य'-शब्द का सिर्फ ३४ बार आना ही इस बात का प्रमाण है कि जो लोग अपने को 'आर्य' कहते थे, वे आक्रमणकारी नही थे, जिन्होने देश को जीतकर यहां के आदि-वासियों—दास—का नाश किया। कारण यह है कि आक्रमण करने वाली जाति स्वभावतः अपनी सफलताओं की निरंतर डींग हांका करती है, जो इतने बड़े ग्रंथ

में कहीं नही है।" श्रीयुत् श्रायंगार का यह कथन सत्य प्रतीत होता है, परंतु अगर यह मान भी लिया जाय कि आर्य लोग बाहर से आये थे, तो भी जैसा हम पहले लिख आये हैं, आर्य और दास—ये दो नस्लों के नाम तो हैं ही नही। अगर ये दो नस्ले होती, तब 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—'सबको आर्य बनाओ'—यह बात तो नही कही जा सकती। सबको अपने विचार का तो बनाया जा सकता है, अपनी नस्ल का तो नही बनाया जा सकता। अगर कोई कहे कि सबको नीग्रो बना दो, तो क्या यह बात कही सिरे बैठती है? बाकी रहा 'वर्ण'-शब्द का 'रग' अर्थ होना। जो लोग भृगुजी का वह श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमे उन्होने कहा है कि ब्राह्मणों का रंग सफ़ेद और शूद्रो का काला होता है, उन्हे भृगुजी ने स्वय शाति-पर्व के १८८वें अध्याय के १०वे श्लोक मे उत्तर दे दिया है—'न विशेषोस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत् ब्रह्मणा पूर्वसृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम्'—वर्ण मे सफेद, लाल, पीला, काला भेद कही नही दीखता। ब्राह्मण काले और शूद्र गोरे भी दिखाई देते है, इसलिए वर्ण-भेद रग के ऊपर आश्रित नही है, कर्म पर आश्रित है। कर्म से ही भिन्न-भिन्न वर्ण बने हैं। भृगुजी का पहला कथन पूर्व-पक्ष है, और यह दूसरा कथन उत्तर-पक्ष है। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि 'वर्ण'-शब्द का अर्थ रंग है जरूर, परतु वर्ण-व्यवस्था मे 'वर्ण'-शब्द का अर्थ रग न होकर 'चुनना' अर्थ है। चुनना—अर्थात्, जीवन का पेशा चुनना।

(घ) नेसफ़ील्ड तथा इबटसन का व्यवसायात्मक-सिद्धान्त (Nesfield's and Ebbetson's Occupational theory)—कुछ विद्वानो का कहना है कि प्रत्येक समाज मे व्यवसायो के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण हुआ करता है। जो व्यक्ति किसी खास पेशे, किसी खास व्यवसाय, किसी खास धधे को करते हैं, वे अपनी सन्तान को उसी पेशे, व्यवसाय या धधे की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार खास-खास पेशे करने वाले खानदानों के अलग-अलग समूह बन जाते हैं। पाश्चात्य देशो मे पेशों के जो समूह बने, उन्हे 'व्यावसायिक-सघ' (Guilds) कहा जाता

था। इन सघो के बनने का आधार नस्ल नही होता था, एक-सा पेशा होता था। भारतवर्ष में भी इस प्रकार के एक-से पेशे के संघ बने, और वे सघ ही जातियाँ कहलाई। ब्राह्मण का पेशा करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय का पेशा करने वाले क्षत्रिय, वैश्य का पेशा करने वाले वैश्य और शूद्र का पेशा करने वाले शूद्र कहलाये। सुनार, लोहार आदि जातियाँ इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पेशो से बनी। पिता अपने पुत्र को अपने पेशे के रहस्य बतलाता था, इसलिए पुत्र उस पेशे मे कुशल होता था। इस प्रकार ये पेशे वश-परम्परा से चलने लगे, पेशो के वश-परम्परा से चलने के कारण जाति-व्यवस्था भी वश-परम्परा से चल पड़ी। पेशे के लोग दूसरो को अपना रहस्य नही बतलाना चाहते थे, इसलिये अपने पेशे के लोगो अर्थात् अपनी जाति मे ही विवाह करते थे, जाति से बाहर नही। इस सिद्धान्त के सबसे बडे समर्थक श्री नेसफील्ड (Nesfield) तथा श्री एबटसन (Ebbetson) हैं।

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करने वालो का कहना है कि समाज मे 'श्रम-विभाग का नियम' (Division of labour) काम करता है। भारत मे जाति-व्यवस्था को जारी करने वालों ने 'श्रम-विभाग' के इसी आर्थिक-नियम को समाज मे क्रियात्मक रूप दे दिया था और भिन्न-भिन्न व्यवसायो को श्रम मानकर उनका ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा अन्य जाति-उपजातियो मे वर्गीकरण कर दिया था। इन व्यवसायो से जाति तथा इनके अवान्तर भेदो से उपजातियो का निर्माण हुआ।

जहाँ तक व्यवसायों को आधार बनाकर जाति-व्यवस्था के निर्माण का सम्बन्ध है, यह प्रश्न उठ खडा होता है कि पाश्चात्य देशो मे भी तो व्यवसायो को आधार बनाकर 'व्यावसायिक-सघ' (Guilds) बने थे, फिर वहाँ जाति-व्यवस्था का निर्माण क्यो नहीं हुआ ? यह प्रथा सिर्फ अपने देश मे ही क्यो उत्पन्न हुई ?

(ङ) गिलबर्ट का भौगोलिक सिद्धान्त (Gilbert's Geographical theory)—कुछ विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था का आधार

भौगोलिक है। उदाहरणार्थ, सरस्वती के किनारे रहने वाले ब्राह्मण सारस्वत कहलाये, कन्नौज मे रहने वाले कनौजिये। इस विचार के समर्थको में श्री गिलबर्ट (Gilbert) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भौगोलिक सिद्धान्त के विषय मे यह आपत्ति की जाती है कि अनेक उप-जातियाँ तो भूगोल की दृष्टि से बनी प्रतीत होती हैं, परन्तु ब्राह्मण आदि जातियो का तो भूगोल से कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।

(च) राइस का टोटम का सिद्धान्त (Rice's Totemistic theory)—कुछ विद्वानो का कहना है कि जाति-व्यवस्था का आधार टोटम है। टोटम क्या है? जातियाँ अपने वश को खोजती-खोजती किसी कल्पित पूर्वज को ढूढ निकालती हैं। कोई अपना प्रारम्भ साप से, कोई आम के पेड से, कोई इसी तरह के अन्य किसी पूर्वज से बतलाता है। इसी कल्पित-पूर्वज को टोटम कहते हैं।

टोटम-सिद्धान्त के विषय मे यह आपत्ति है कि जगली जातियो मे तो यह ठीक प्रतीत होता है, किन्ही-किन्ही उप-जातियो मे भी शायद यह ठीक जँच जाय, परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जिस जाति-व्यवस्था पर हम विवेचन कर रहे हैं उस पर यह ठीक नही बैठता क्योंकि इनका 'टोटम' से कोई सबन्ध नही।

(छ) हट्टन का बहु-कारणतावाद (Hutton's Multiple theory)—जाति-व्यवस्था के हमने ऊपर जो अनेक कारण लिखे उनमे से कौन-सा एक जाति की व्यवस्था मे कारण बना होगा—यह तो नही कहा जा सकता। इनमे से सबका थोडा-थोडा हिस्सा जाति-व्यवस्था को उत्पन्न करने में अवश्य रहा होगा—यही कहा जा सकता है। यद्यपि हट्टन का कहना यह है कि आर्यों के भारत मे आने से पहले ही यहाँ की सामाजिक रचना विषमता के आधार पर पहले से ही बनी हुई थी, आर्यों ने सिर्फ उस सामाजिक विषमता पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पेशों की पैबन्द चढा दी, फिर भी उसका कहना है कि यहाँ की जाति-व्यवस्था को वर्तमान

रूप देने मे एक नही अनेक कारणो ने सहयोग दिया है। किस कारण का कितना हिस्सा जाति-व्यवस्था के उत्पन्न करने में रहा होगा—यह गवेषणा का एक अच्छा विषय है।

जाति-प्रथा की उत्पत्ति मे हमारा जो मत है वह हम इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही दे आये हैं।

६. जाति-व्यवस्था के कार्य
(Functions of Caste System)

जाति-व्यवस्था के कार्य अच्छे भी हो सकते है, बुरे भी। इन दोनो का यहाँ सक्षिप्त-सा वर्णन कर देना अप्रासगिक न होगा। जाति-व्यवस्था के अच्छे कार्यों को हम 'जाति-व्यवस्था के गुण' तथा बुरे कार्यो को 'जाति-व्यवस्था के दोष'—इन शीर्षकों से लिखेगे।

[जाति-व्यवस्था के गुण]

(क) **मानसिक-निश्चिन्तता** (Psychological Security)—जाति-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि जाति का जो सदस्य होता है उसे अपने भविष्य के कार्य-क्रम की कोई चिन्ता नही रहती। जाति की जो परम्पराएँ हैं उन्ही को लेकर व्यक्ति जीवन मे आगे-आगे कदम रखता जाता है, उसके लिए मानो सारा-का-सारा प्रोग्राम पहले से बना बनाया है, शादी-ब्याह, खाना-पीना, रहन-सहन, रीति-सस्कार—इन सबके लिये उसे कोई चिन्ता नही करनी, यह सारी चिन्ता का भार बिरादरी सदा अपने ऊपर लिये रहती है।

(ख) **आर्थिक-निश्चिन्तता** (Economic Security)—आज उद्योग-धन्धे की समस्या हर व्यक्ति को परेशान करती है, परन्तु जाति-व्यवस्था मे हर व्यक्ति का धन्धा निश्चित है। भगी के लड़के को भगी का काम करना है, कहार-बढ़ई-सुनार के लडके को अपना परम्परागत धन्धा करना है। इसमें जो-कुछ प्राप्त हो गया उसी को वह बहुत मानता है। जाति क्योंकि जन्म से आती है इसलिये ऊँची जाति मे जन्म लिया तो

भी सन्तोष, नीची जाति में जन्म लिया तो भी सन्तोष करना होता है, यह सोचकर सन्तोष करना होता है कि पिछले जन्म के कर्मों के कारण नीच जन्म मिला, अब कर्म का फल भोग लेंगे तो अगले जन्म में उच्च वंश मे जन्म मिलेगा। जाति-व्यवस्था मे हर युवक को धन्धे की तलाश नही करनी पडती, बाप-दादा का धन्धा उसका धन्धा होता है।

(ग) सामाजिक-सुरक्षा (Social Security)— आज वृद्ध, अपंग, अनाथ, विधवा के लिये सामाजिक-सुरक्षा के भिन्न-भिन्न प्रयत्न हो रहे हैं। वृद्धो के लिये वृद्धालय, अनाथों के लिये अनाथालय, विधवाओ के लिये विधवाश्रम खुल रहे हैं। जाति-व्यवस्था मे इस प्रकार के असमर्थ व्यक्तियो का पालन-पोषण जात-बिरादरी करती थी।

(घ) संगठन (Social Unity)—जाति-व्यवस्था मे जाति के सदस्यो का आन्तरिक-संगठन बडा दृढ होता है। जाति के मुखिया लोगो ने जो निश्चय कर दिया वह सबको मान्य होता है। बिरादरी अगर हडताल का निश्चय कर दे, तो किसी की मजाल नही जो हडताल के विरुद्ध चूँ भी कर सके। आजकल की मजदूरो की हडतालो और बिरादरी की हडताल में यह भेद है कि मज़दूरो मे दो पार्टियाँ बन सकती हैं, परन्तु बिरादरी की हडताल मे दो पार्टियाँ नही बनती। बिरादरी की बात जो नही मानता उसे बहिष्कृत कर दिया जाता है, उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है, उससे रोटी-बेटी का व्यवहार तोड दिया जाता है। इस दृष्टि से जाति का संगठन एक जबर्दस्त संगठन है। राजनैतिक दल जात-बिरादरी के आधार पर वोट माँगते हैं, और भारत जैसे देश मे जहाँ जात-बिरादरी का भूत हर-एक पर सवार है जाति के आधार पर वोट ज्यादा लिये और दिये जा सकते हैं।

(ङ) भिन्न समुदायों को एकता में बांधना (Unity in diversity)—भारतीयो की जाति-व्यवस्था मे एक खास बात यह है कि यह जातियो के भिन्न-भिन्न समूह होते हुए भी उन्हे एक सूत्र मे बाँध देती है। उदाहरणार्थ, बाहर से आये हुए शक, हूण आदि और अपने देश के अन्दर

के जो लोग भी हैं—इन सबको हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था मे इस तरह पिरो दिया गया है कि वे सब अलग-अलग होते हुए भी हिन्दू-धर्म का अग माने गये हैं। हिन्दुओ की जाति-व्यवस्था मे हर-एक को स्थान है। हिन्दू हर-एक के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार तो नही कर सकता, परन्तु अपनी जाति-व्यवस्था मे हर-एक को स्थान अवश्य दे सकता है। अगर ईसाई हिन्दू होना चाहता है तो हिन्दू रोटी-बेटी का व्यवहार तो उसके साथ नहीं करेगा, परन्तु उसे 'ईसाई-हिन्दू' की जात अवश्य दे देगा। इस प्रकार जो ईसाई-हिन्दू बनेंगे, वे आपस मे रोटी-बेटी का व्यवहार कर सकेंगे, दूसरो के साथ नही। इस तरह की है यह जाति-व्यवस्था।

[**जाति-व्यवस्था के दोष**]

(क) अराष्ट्रीयता (Anti-nationalism)—जाति-व्यवस्था मे जहाँ यह गुण है कि यह छोटे-छोटे समूहो मे एकता उत्पन्न करती है, वहाँ इसमे यह दोष है कि यह बड़े समूह का निर्माण नही होने देती, खासकर एक राष्ट्रीय-भावना के उत्पन्न होने मे बाधक बन जाती है। जहाँ राष्ट्रीयता की भावना की बात हुई, वहाँ छोटे-छोटे समूह अपने-अपने स्वार्थों के कारण इस प्रकार लडने-झगडने लगते हैं कि बडी बात हो ही नही पाती। बनिये बनिये के दृष्टिकोण से, खत्री खत्रियो के दृष्टिकोण से जब बात करेंगे, तब राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण की बात कहाँ हो सकती है?

(ख) शोषण (Exploitation)—जाति-व्यवस्था मे ऊँच-नीच का भाव सदा बना रहता है। यह ऊँच-नीच का भाव कर्म पर आश्रित न होकर जन्म पर आश्रित होता है। इसका मतलब यह हुआ कि जाति-व्यवस्था मे कुछ व्यक्ति सदा जन्म के कारण ऊँचे और कुछ जन्म ही के कारण सदा नीचे माने जाते हैं। परिणामस्वरूप उच्च-कुल के लोग सदा नीचे कहे जाने वाले वर्ग का शोषण करते रहते हैं। अछूतपन की बीमारी इसी जाति-व्यवस्था की उपज है। हिन्दू-समाज की जाति-व्यवस्था के कारण अछूत कहे जाने वाले वर्ग का सदा शोषण हुआ है। जाति-

व्यवस्था के इन अत्याचारो का परिणाम है कि अनेक तथाकथित निम्न-जाति के लोग ईसाई तथा मुसलमान बन गये।

(ग) अप्रगतिशीलता (Static society) जाति-व्यवस्था पर आश्रित समाज प्रगतिशील नही रहता। सब-कुछ पहले से निश्चित है। रीति-रिवाज क्या होगे, रहन-सहन कैसा होगा, आर्थिक-दृष्टि से व्यक्ति किस प्रकार का उद्योग-धन्धा करेगा, कहा शादी-ब्याह करेगा, क्या करेगा, क्या नही करेगा—सब-कुछ जब व्यक्ति के लिए पहले से निश्चित है, तब वह अपने दिमाग को किसी बात के लिए तकलीफ क्यो देगा? ऐसे समाज में व्यक्ति मे क्रियाशीलता नही रहती, प्रगतिशीलता नही रहती, वह अपने उद्योग से आगे नही बढ सकता।

(घ) अप्रजातान्त्रिक (Anti-democratic)—१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ। उससे पहले अग्रेजो के काल मे तो प्रजातन्त्र का कुछ काम ही नही था, उसके बाद इस दिशा मे कदम उठाया गया। इस बीच जो सविधान बना, वह २६ जनवरी १९५० को सम्पूर्ण भारत पर लागू हुआ। इस सविधान की कुछ विशेषताएँ थी जिनमे से जिस विषय पर हम विचार कर रहे हैं उससे सम्बन्ध रखने वाली विशेषताएँ हैं—'आधारभूत अधिकार' (Fundamental Rights)।

'आधारभूत-अधिकार' का मतलब है—कानून की दृष्टि से व्यक्ति व्यक्ति मे कोई भेद नही होगा, कोई बडा नही, कोई छोटा नही, धर्म, वश, जाति, लिंग के कारण मनुष्य-मनुष्य मे भेद नही माना जायगा, सब बराबर होगे, हर किसी को वोट का अधिकार होगा। यह अधिकार ऐसा है जिससे जाति-व्यवस्था की जड मे कुठाराघात होता है। जाति-व्यवस्था, और प्रजातन्त्र के सिद्धान्त पर माने गये 'आधारभूत-अधिकार'—दोनो एक-दूसरे से विरोधी चीजें हैं। अगर आधारभूत-अधिकारो के अनुसार भारत के हर व्यक्ति को, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे चमार हो, एक-सा माना जाय, तो जाति-व्यवस्था खत्म हो जाती है, अगर जाति-व्यवस्था के अनुसार मनुष्य-मनुष्य मे जन्म के कारण भेद माना जाय,

तो 'आधारभूत-अधिकार' खत्म हो जाते हैं। इन दोनो का मेल नही बैठता। वर्तमान-युग मे क्योकि प्रजातन्त्र का ही बोलबाला होगा इसलिए धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था समाप्त हो जायगी—इसमे कोई सन्देह नही। इसमे भी सन्देह नही कि जैसी हालत अभी तक है उसमे चुनावो के समय लोग प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो को दृष्टि में रखकर वोट नही देते, अपनी जात-बिरादरी को सामने रखकर वोट देते हैं। भारत मे असली प्रजातन्त्र तभी चलेगा जब जात-बिरादरी के सकुचित हित को भुलाकर लोग देश-हित की विशाल दृष्टि से सोचने लगेंगे।

७. जाति-प्रणाली तथा भारतीय मुसलमान

(क) मुसलमानों में विवाह-संबंध में ऊँच-नीच का भेद—इस्लाम मे विश्व-बन्धुत्व का सिद्धान्त आधारभूत माना जाता है। हजरत मुहम्मद के अनुसार इन्सान और इन्सान मे भेद करना अनुचित है। सब मनुष्य एक-समान हैं, उनमे ऊँच-नीच का भेद नही है। यह विचार जाति-व्यवस्था के विचार से उल्टा है। जाति-व्यवस्था मे तो जन्म से ही कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्र है।

जाति-व्यवस्था के इस रूप से तो इस्लाम अछूत है, परन्तु असल मे देखा जाय, तो जाति-व्यवस्था का आधारभूत-तत्व ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र न होकर मनुष्य का मनुष्य से भेद है। जहा मनुष्य का मनुष्य से सामाजिक-दृष्टि से भेद पाया जाता है वहा जाति-व्यवस्था को किसी-न-किसी रूप मे माना जाता है। जो लोग मनुष्य का मनुष्य से भेद करते हैं, वे एक-दूसरे को छूने से परहेज करते हैं, एक दूसरे के साथ उठने-बैठने से, खाने-पीने से, एक-दूसरे को विवाह में अपनी कन्या देने से परहेज करते हैं। इन दृष्टियों से देखा जाय, तो यद्यपि मुसलमानो मे हिन्दुओ की तरह उतनी कट्टरता नही है, तो भी अन्तर्विवाह के क्षेत्र मे उनमे भी ऊँच-नीच का भेद विद्यमान है। उदाहरणार्थ, श्री रामधारी सिंह दिनकर ने अपने 'सस्कृति के चार

अध्याय'-नामक ग्रन्थ मे 'मुस्लिम-काल मे सामाजिक-संस्कृति का स्वरूप'—इस अध्याय में लिखा है, "हिन्दुओ की जाति-प्रथा ने भी मुस्लिम-समाज को प्रभावित किया और मुसलमान भी शरीफ़ और रजील जातो का भेद करने लगे एव जुलाहो और धनियो के साथ शरीफ जात वालो को खाने-पीने मे आपत्ति होने लगी ।" "हिन्दुओ की देखा-देखी, मुसलमानो मे भी ऊंच-नीच का भेद चलने लगा एव यह प्रथा प्रचलित हो गई कि सय्यद शेख की बेटी ले सकता है, किन्तु शेख सय्यद की बेटी से ब्याह नही कर सकता ।"

(ख) मुसलमानों में ऊंच-नीच के सामाजिक-भेद का कारण—यद्यपि इस्लाम मे मनुष्य-मनुष्य के ऊंच-नीच के भेद को स्वीकार नही किया गया, तथापि इस्लाम मे यह भेद किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है । इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि इस्लाम जब अन्य देशो मे आक्राता बनकर पहुंचा, तब वहा जाकर यद्यपि इसने दूसरे देश वालो को इस्लाम धर्म मे दीक्षित कर लिया, तो भी विजेता और विजित की भावना हर जगह बनी रही । जो लोग मुहम्मद साहब के रक्त के थे, या उनके सबधी थे, या उनके समय के साथी थे, वे तथा उनके वशज सदा अपने को दूसरो से बडा समझते रहे और इस बडप्पन के कारण ही वे अपनो तथा दूसरो मे भेद करते रहे । जो विजित थे, उन्होने यद्यपि इस्लाम स्वीकार कर लिया, तो भी अपनी स्वतन्त्र-सत्ता बनाए रखने के लिए वे भी अपनो मे ही ब्याह-शादी करते रहे, इसलिए एक तरह की जात-पांत इन लोगो मे बनी रही । जब इस्लाम भारत मे आया, तब तो इस्लाम का जात-पांत से प्रभावित होना और भी आसान हो गया । यहा तो जाति-व्यवस्था थी ही । इसका प्रभाव यह हुआ कि मुस्लिम आक्रान्ताओ मे भी एक तरह से तीन सामाजिक श्रेणिया बन गई । इतिहासकार अन्सारी के कथनानुसार भारत में मुसलमानों मे जो सामाजिक भेद-भाव उत्पन्न हो गया उसे तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है । वे भाग क्या है ?

(ग) **भारत में मुसलमानों में ऊंच-नीच के तीन भेद**—अन्सारी के कथनानुसार भारत मे मुसलमानो के तीन वर्ग बन गए। एक वर्ग तो वह है जो उच्च जाति के मुसलमानों का है, ये मुसलमान अपने को विजेता मुसलमानो का वशधर बतलाते हैं, अरब या ईरान से आया हुआ बतलाते हैं, अपना किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध हजरत मुहम्मद से जोडते हैं। इन्हे 'अशरफ' कहा जाता है, 'अशरफ'—अर्थात् 'शरीफ'—जिनका जिक्र हम ऊपर कर आए हैं। इन 'शरीफ' मुसलमानो के बाद सामाजिक स्थिति में दूसरे दर्जे पर वे मुसलमान आते हैं जो उच्च जाति के हिन्दू थे, परन्तु मुसलमान हो गये। इनको क्योंकि 'शरीफ'-दर्जे के मुसलमान अपने में शामिल नही करते इसलिए इनका दर्जा दूसरा है। तीसरे दर्जे में हिन्दुओं की वे छोटी-मोटी जातिया आ जाती हैं जो उच्च-दर्जे के हिन्दू नही थे, नीचे दर्जे के थे, और मुसलमान हो गये।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि मुसलमानो में हिन्दुओं की छूत-छात नही है, खाने-पीने और हुक्के का परहेज भी नही है, इस दृष्टि से हिन्दुओ की-सी जाति-प्रणाली भी नही है, तथापि उनमें वशगत ऊंच-नीच का भेद मौजूद है, ब्याह-शादी में भी जन्मगत भेद को ध्यान में रखा जाता है—इसलिए इन अशो में उनमें भी जाति-प्रणाली के ये दो आधारभूत तत्व—जन्मगत-भेद तथा सामाजिक-स्थिति पर आश्रित ब्याह-शादी का भाव—मौजूद है।

८. जातिवाद
(Casteism)

हमने अभी कहा कि मुसलमानो मे यद्यपि हिन्दुओं की तरह की जाति-प्रणाली नहीं है, तो भी उनके जाति-प्रणाली के कई तत्व मौजूद हैं, उनमे ऊँच-नीच की भावना मौजूद है। इस भावना को जाति-प्रणाली तो नही कहा जा सकता, परन्तु जातिवाद कहा जा सकता है। तो फिर जातिवाद क्या है?

(क) जातिवाद की परिभाषा—जातिवाद किसी एक जाति या मानव-समूह के सदस्यो की उस भावना को कहते है जो अपने देश या अपने सम्पूर्ण समाज का हित सामने नही रखती, अपितु अपनी जाति या अपने से सम्बन्धित छोटे समूह के सदस्यो के हित को सामने रखती है। यह जरूरी नही कि यह भावना हिन्दुओ की-सी जाति-प्रणाली का ही रूप धारण करे। जहा-जहा देश भर के या अपने सम्पूर्ण समाज के हित को सामने रखने के स्थान में अपनी जाति, अपनी बिरादरी, अपने धर्म या अपने छोटे-से समाज का हित सामने रखकर व्यवस्था बनेगी, वहाँ जातिवाद कहा जा सकेगा। इस जातिवाद का परिणाम यह होता है कि लोग अपनी-अपनी जाति को दृढ बनाने का प्रयत्न करते हैं, उसके सदस्यो का आपस मे सम्पर्क होता है, जाति के सदस्य आपस मे ही शादी-ब्याह करते हैं, अपने दायरे से बाहर नही जाना चाहते।

(ख) जातिवाद के कारण—मनुष्य इकला भी नही रह सकता, सारे ससार का होकर भी नही रह सकता। इकले रहने से उसके कारोबार नही चल सकते, और सारे ससार का बनकर समुद्र में पानी के बूंद की तरह वह अपने को खो देता है। इसलिये अपने कारोबार चलाने के लिए, अपना परिवार बनाये रखने के लिए, शादी-ब्याह का चक्र चलाये रखने के लिए, अपने नजदीकी सहायको का दायरा खडा करने के लिए वह एक समूह को अपना लेता है, इसी मे अपने व्यवहार चलाता है, यही उसका जाति का दायरा कहलाता है। इस प्रकार के दायरे आजकल की परिस्थितियों में बन भी रहे हैं, टूट भी रहे हैं। क्यो बन रहे है और क्यों टूट रहे हैं इसके भी कारण हैं। वे कारण क्या हैं?

(i) **उद्योगीकरण तथा नगरीकरण**—पहले कभी लोग अपनी जात का ही पेशा करते थे परन्तु आज उद्योग बढ रहे हैं, नगरो का विकास हो रहा है, सब लोग गाव से नगर की ओर जाना चाहते हैं। गांव में वे अपने सीमित-क्षेत्र मे थे, हर समय जात-बिरादरी का भूत सवार रहता था, जब वे शहर मे जाते है तब उनका जात-बिरादरी

से सम्बन्ध टूट जाता है, नये-नये लोगो के बीच मनुष्य जा पडता है। परन्तु जातिवाद की जो भावना नगर में जाकर टूट गई थी, वह वहां की परिस्थितियो से फिर जाग भी जाती है। इतने बडे नगर मे मनुष्य अपने को इकला-सा अनुभव करने लगता है, कोई मुसीबत में साथ देने वाला नही दीखता। ऐसी हालत में फिर वह अपनी जाति वालों की तलाश करता है, अपने गाव वाले, अपनी जात-बिरादरी वाले, ऐसे लोग जो जरूरत के वक्त उसका साथ दें। यही कारण है कि बड़े-बड़े शहरो में जातीय-सगठन बनते दिखाई देते हैं—गौड ब्राह्मण सभा, सारस्वत महामण्डल, अग्रवाल सभा इत्यादि। उद्योगीकरण तथा नगरीकरण से लोग नगरों में जाते है, और वहा नगरो की परिस्थितिया जातिवाद को तोडने तथा बढावा देने—दोनो मे हाथ बँटा रही हैं।

(ii) **आजीविका की समस्या**—आजीविका की समस्या को हल करने के लिए भी जातिवाद का सहारा लिया जाता है। पहले कभी जातिया आजीविका का प्रश्न भी हल करती थी। प्रत्येक जाति का एक पेशा होता था, उस जाति मे जो पैदा हुआ उसको पेशा ढूँढने की जरूरत नही थी, उसकी जाति का पेशा उसका पेशा था। ब्राह्मण के लडके को पधियाई ही करनी है, और कुछ नही, क्षत्रिय के लडके को फौज मे भर्ती होना है, बनिये के लडके को दुकानदारी करनी है। आज की कश्मकश के युग मे यह अवस्था नही रही। ब्राह्मण का लडका पधियाई से सतुष्ट नही, वह सरकारी नौकरी करना चाहता है। यही हाल और जातियो का है। इस युग मे जाति का पेशे के साथ अब तक जो सम्बन्ध चला आ रहा था वह टूट गया है, परन्तु जहां वह सम्बन्ध टूटा है वहा फिर से वह सम्बन्ध बनता भी जा रहा है। वह कैसे ? वह इस प्रकार कि जब कोई ब्राह्मण या किसी जाति या धर्म का कोई व्यक्ति उच्च पद पा लेता है तब वह अपनी जाति के लोगो का स्तर ऊँचा करने के लिए उन्हे सहारा देने लगता है। अगर कोई दलित-वर्ग का व्यक्ति मिनिस्टर बन गया, तो वह अपनी जात-बिरादरी वालो

की जितनी सहायता कर सकता है, करता है, जहाँ तक उसका बस चलता है अपनी जात वालो को नौकरिया देता है । कायस्थ कायस्थो को ढूंढते हैं, काश्मीरी काश्मीरियों को, भिन्न-भिन्न जात वाले अपनी जात वालो को । नौकरियां ढूढने वाले भी इस बात का पता लगाते रहते हैं कि उनकी जात का कौन बडा अफ़सर कहाँ लगा है । इन सब लोगों का ऐसा करना स्वाभाविक भी है । जब तक वे अपनी सारी जाति का आजीविका का आर्थिक-स्तर ऊँचा नही कर लेते तब तक अपने लडके-लडकियो के शादी-ब्याह की समस्या उनके सामने बनी रहती है । इस सब से भी जातिवाद को पनपने का अवसर मिलता है ।

(ग) **जातिवाद के परिणाम**—उक्त कारणो से जातिवाद बढ रहा है—हिन्दुओ में, मुसलमानो मे, सिक्खो, ईसाइयो, पारसियो—सभी मे बढ रहा है । हमे यह देखना है कि जातिवाद के इस प्रकार बढने के क्या परिणाम हें ?

(i) **जातिवाद राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र-भावना के विपरीत है**—जातिवाद का यह परिणाम है कि हम प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी जाति की बात ले बैठते हैं । स्कूलो-कालेजो मे प्रबन्धक लोग अपनी जाति के लोगो को भरने लगते हैं । नगरपालिका, विधान-सभा आदि के चुनावो मे अपनी जाति के लोगो को मतदान देने लगते हैं । राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र की भावना यह नही है । राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र मे व्यक्ति सारे देश का है, एक समूह का, एक जाति का नही । अगर मान लिया जाय कि अपनी जाति के वे लोग जिन्हे हम नौकरी मे भरते हैं, या जिन्हें हम वोट देते हैं, सब-के-सब योग्य ही हैं, तब भी इसका यह परिणाम तो होता ही है कि इससे एक क्षुद्र भावना को हम बढावा देते हैं, राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र की महान् भावना को नष्ट करते है ।

(ii) **जातिवाद से अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में सत्ता आती है**—यह समझना कि हमारी जाति के सब लोग योग्य ही होगे, गलत धारणा है। योग्यता का पट्टा किसी एक जाति का नहीं। योग्य व्यक्ति सब जातियो, सब समूहो मे पाये जाते हैं। जातिवाद का भयंकर दुष्परिणाम यह होता है कि सब जगह अयोग्य व्यक्ति भर जाते हैं और कोई काम ठीक-से नही हो पाता। आज अपने देश में सब जगह कार्य की शिथिलता का मुख्य कारण यही है कि जातिवाद के शिकार होकर इनने सब जगह अपने भाई-भतीजे भर दिये हैं।

(घ) **जातिवाद को दूर करने के साधन**—जैसा हमने पहले कहा, 'जातिवाद' हिन्दुओ की ही बीमारी नही, सब जगह भिन्न-भिन्न रूपो मे पाया जाता है। इसे किस प्रकार समाप्त किया जाय—यह समाज-सुधारको के सम्मुख सबसे बडी समस्या है। 'जातिवाद' से देश को बहुत हानि होती है इसलिये यह विचार करना आवश्यक है कि यह कैसे समाप्त हो ?

(i) **जातिवाद को समाप्त करने के लिये जाति-व्यवस्था को समाप्त किया जाय**—समाज-सुधारको मे एक प्रबल-पक्ष यह है कि जब तक हर-एक अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इस रूप में मानता है, तब तक हिन्दुओ का जातिवाद समाप्त नही हो सकता। इसी दृष्टि से कई लोग अपने को किसी जाति के नाम से न कहकर 'आर्य'—यह लिखते हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि जाति-व्यवस्था हिन्दुओ मे इतना घर कर चुकी है कि लेखो-व्याख्यानो से यह निकल नहीं सकती। इसके अतिरिक्त जाति-व्यवस्था को खत्म कर देने से जातिवाद समाप्त हो जायगा—यह विचारास्पद बात है। जाति-व्यवस्था तो जातिवाद का ही परिणाम है। हमे जातिवाद की भावना समाप्त करनी होगी, तब जाति-व्यवस्था अपने-आप समाप्त हो जायगी, अगर नही भी होगी तब भी जाति-व्यवस्था से जातिवाद के कुपरिणाम नही उत्पन्न होगे।

(ii) **कानून द्वारा जातिवाद को समाप्त किया जाय**—दूसरा पक्ष यह है कि अगर जातिवाद लेखो-व्याख्यानो-प्रचार से नही समाप्त होता, तो इसे कानून बनाकर समाप्त कर दिया जाय। इसी दृष्टि से भारत के संविधान के अनुच्छेद १५ विभाग २ के अनुसार सभी जातियों को बिना किसी भेद-भाव के सार्वजनिक स्थानो के इस्तेमाल की आज्ञा दी गई है, और १६ अनुच्छेद के अनुसार सरकारी नौकरियों के लिये सबको बिना जाति तथा धर्म के भेद के समान अधिकार दिये गये हैं। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार के कानूनो से जातिवाद के उन्मूलन मे पर्याप्त सहायता मिलेगी तथा मिल रही है।

(iii) **अन्तर्जातीय विवाहों द्वारा जातिवाद को समाप्त किया जाय**—जातिवाद को दूर करने का एक बडा साधन यह है कि अन्तर्जातीय-विवाहो को प्रोत्साहित किया जाय। जातिवाद के परिणामस्वरूप सबसे पहली बात यह होती है कि हम इस जाति में अपनी लडकी का विवाह नही कर सकते, उसमें नही कर सकते। इस प्रकार के नवयुवको के तय्यार होने की जरूरत है जो जान-बूझ कर अन्तर्जातीय विवाह करे। इससे जातिवाद की जडे धीरे-धीरे हिल जाने की सभावना है।

(iv) **जाति-विमुक्त समूहों का निर्माण किया जाय**—एक सुझाव यह है कि नव-युवकों को प्रोत्साहित किया जाय जो अपने को किसी जाति का न कहें, हर प्रकार की जाति से अपने को विमुक्त कर लें। ऐसे समूह जितने बढते जायेंगे उतने ही वे दूसरों को प्रभावित कर अपने साथ मिलाते जायेंगे। इस प्रकार के समूहो से सिर्फ यह खतरा हैं कि कही आगे चलकर ये स्वय एक प्रकार की जाति का रूप न धारण कर लें, परन्तु यह खतरा बहुत दूर का खतरा है, अभी इस प्रकार के समूहो से इस तरह का कोई खतरा नहीं हो सकता।

प्रश्न

१ **वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था में क्या भेद है ?**

२. जाति-व्यवस्था के आधारभूत तत्व क्या हैं ?
३. जाति-व्यवस्था के उत्पत्ति के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये।
४. जाति-व्यवस्था के गुण तथा दोष क्या हैं ?
५. हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था की कौन-सी विशेषताएँ भारतीय मुसलमानों में मिलती हैं ?
६. जातिवाद (Casteism) क्या है ? इसके कारण, परिणाम तथा इसे दूर करने के साधन क्या हैं ?

२

जाति-व्यवस्था में परिवर्तन के तत्व

(FACTORS OF CHANGE IN CASTE SYSTEM)

जाति-व्यवस्था हमारी सामाजिक-रचना का इस समय एक अभिन्न अग बनी हुई है। समझा यह जाता है कि यह व्यवस्था सनातन-काल से चली आ रही है, और सनातन-काल तक चलती चली जायगी। जब कभी इसमे परिवर्तन की आवाज़ उठती है तभी यह कहा जाता है कि यह तो हिन्दू-धर्म की जड़ो मे कुठाराघात है। असल मे यह बात नही है। जाति-व्यवस्था ही क्या, कोई भी सामाजिक-व्यवस्था ऐसी नही होती, जो सदा एक-सी बनी रहे। समय-समय पर समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती है, और उन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये समाजशास्त्री तथा नियम-निर्माता-श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ बनाते रहते हैं। एक ही व्यवस्था मे भी समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। यह नियम जाति-व्यवस्था पर भी वैसा ही लागू है जैसा और व्यवस्थाओं पर। हमने यहाँ यह देखना है कि जाति-व्यवस्था का वर्तमान रूप क्या सनातन-काल से ऐसा ही चला आया है, या यह सामाजिक-संगठन हमारे समाज मे भिन्न-भिन्न रूपो में से होता हुआ वर्तमान रूप मे पहुँचा है।

अपने देश का इतिहास बहुत पुराना है। इतिहासज्ञ लोग भिन्न-भिन्न घटनाओ के भिन्न-भिन्न काल बतलाते हैं। पुरातन-काल की किसी घटना के विषय में भी सब विद्वानो का एकमत नही है। हम यहाँ काल के झगडे मे नही पडेगे। हमारे उद्देश्य के लिये इतना पर्याप्त है कि हमारा बहुत पुराना काल वैदिक-काल था, उसके बाद उत्तर-वैदिक-काल आया, फिर स्मृतियो का काल आया, और अब वर्तमान काल है। हमे यह देखना है कि जाति-व्यवस्था का विचार इन चारो कालो मे क्या एक-सा रहा, या इन सब कालो में से गुजरता हुआ समय की आवश्यकता के अनुसार यह भिन्न-भिन्न रूपो को धारण करता गया, इसमे समयानुसार परिवर्तन होता गया। हमारी स्थापना यह है कि अन्य विचारो के अनुसार यह विचार भी समय की आवश्यकताओ के अनुसार बदलता गया, इसमे परिवर्तन होता गया, यहाँ तक कि इस समय भी इसमे परिवर्तन हो रहा है, और समय की आवश्यकता के अनुसार इसमे अभी और अधिक परिवर्तन होने की आवश्यकता है। जाति-व्यवस्था मे किस प्रकार परिवर्तन होता रहा है—यह आगे स्पष्ट हो जायगा।

१. वैदिक-काल में जाति-व्यवस्था

(आर्य तथा दास)

वैदिक-काल भारतीय इतिहास का प्राचीनतम काल समझा जाता है। आर्यों की प्राचीनतम सभ्यता, सस्कृति तथा सामाजिक-व्यवस्था जानने के लिये इस काल के ग्रन्थो का अनुशीलन आवश्यक है। इस काल का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। हम पहले दर्शा आये है कि भारत की प्रारम्भिक—अर्थात् वैदिक-काल की—सामाजिक-व्यवस्था में समाज को दो भागो मे बाँटा गया था। वे दो भाग थे—आर्य तथा दस्यु। पाश्चात्य-विद्वानो का कथन है कि आर्य लोग भारत के आदि निवासी नही थे। वे विजेता बन कर यहां आये। यहा के आदि-निवासी कोई दूसरे लोग थे जिन्हें वेदों मे 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है।

आर्यों ने दासों को जीत लिया और 'दास' या 'दस्यु' लोग आर्यों के अधीन भिन्न-भिन्न बस्तियों में रहने लगे। आर्य लोग दासों से घृणा करते थे। आर्यों का रंग गोरा था, दासो का काला; आर्यों की नाक नोकीली थी, दासो की चपटी। आर्य लोग विजेता बन कर आये थे इसलिये वे अधिकतर सैनिक थे; दास लोग यहाँ के आदि-वासी थे, उन्हें जीता गया था इसलिये उनसे सब तरह का हाथ का तथा सेवा का काम लिया जाता था। आर्यों तथा दासों का यह सम्बन्ध ही दास-प्रथा का रूप धारण कर गया। पाश्चात्य-विद्वानों का यह विचार ठीक है या नहीं—इस पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। पाश्चात्य-विद्वानो से भिन्न अन्य अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य लोग बाहर से नही आये थे, यहीं के आदि-निवासी थे। अगर बाहर से भी आये थे, तो भी 'आर्य' तथा 'दास'—ये दो भिन्न-भिन्न जातियाँ, या ये दोनो भिन्न-भिन्न रुधिरों की न होकर ये शब्द गुण-वाचक थे। अच्छे लोग आर्य कहलाते थे, बुरे लोग दस्यु कहलाते थे। 'दास' या 'दस्यु'-शब्द 'दसु-उपक्षये' धातु से बने हैं। 'उपक्षय' का अर्थ है—नाश करना, तोडना-फोड़ना। जो उस समय की सामाजिक-व्यवस्था को मान कर उसके अनुसार चलते थे वे 'आर्य' कहलाते थे, जो चोर-उचक्को की तरह सामाजिक-व्यवस्था को न मान कर मनमानी करते थे उन्हे 'उपक्षय' करने के कारण 'दास' कहा जाता था। समाज में इस प्रकार दो तरह के व्यक्ति सदा रहते हैं—नियमों का पालन करने वाले तथा नियमो को तोडने वाले, आज भी ऐसे व्यक्ति हैं। वैदिक-काल में समाज के इस प्रकार के स्वाभाविक-विभाग को 'आर्य' तथा 'दस्यु' कहा जाता था, विजेता या विजित होने के कारण, या रंग का भेद होने के कारण या जाति का भेद होने के कारण नही। इसीलिये ऋग्वेद मे कहा गया—'सब को आर्य बना लो'—अगर 'आर्य' तथा 'दस्यु' का रक्तगत भेद होता, तो इस प्रकार

की घोषणा का कोई अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि भिन्न रक्त के व्यक्ति को 'आर्य' कैसे बनाया जा सकता था।

जो-कुछ भी हो, आर्य बाहर से आये या यहीं के आदि-वासी थे, आर्य तथा दास भिन्न-भिन्न रक्त के थे या एक ही समाज में अच्छे व्यक्तियों को आर्य तथा बुरों को दास कहा जाता था—यह स्पष्ट है कि वैदिक-काल में आज जैसी जाति-व्यवस्था नहीं थी। आज एक जाति के लोग दूसरी जाति में शादी-ब्याह नहीं करते, दूसरी जाति वालों के साथ खाते-पीते नही, उनके साथ मिलते-जुलते नहीं—यह सब-कुछ वैदिक-काल में नहीं था, इसलिये नहीं था क्योंकि उस समय समाज का विभाग 'आर्य' तथा 'दास' के सिवाय दूसरा-कुछ था ही नही। उस समय क्या था ? उस समय, आज जैसे सैकड़ों जात-पात हैं वैसी जातें नहीं थी; उस समय समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसे वर्ण-विभाग भी नहीं था; उस समय सब लोग एक-से थे। सबको ऋग्वेद में 'विश:' कहा गया है, 'विश:' का अर्थ है—'प्रजा', 'जनता', 'लोग'! इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस सामाजिक-व्यवस्था में किसी प्रकार का भी भेद नहीं था। आर्यों के अपने-अपने कबीले जरूर थे, इन कबीलो को 'जना:' कहा जाता था। ऋग्वेद में इस प्रकार के 'पंचजना:' या 'पंच कृष्ट्य:' का वर्णन आता है। ये पंचजन थे—अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु और पुरु। परन्तु ये पांचों 'आर्य' थे और ऋग्वेद की परिभाषा में 'विश:' थे, उस समय की 'जनता' थे। आज जो 'वैश्य' शब्द चला हुआ है, यह 'विश:' से ही बना है। इसका अर्थ भी है—जनता। क्योंकि आम जनता वणिज-व्यापार से अपना गुजारा करती है इसलिये वणिज-व्यापार करने वालो को भी 'वैश्य' कहा जाने लगा। 'वेश्या'-शब्द भी इसी 'विश:' से ही बना है। 'वेश्या' भी किसी एक की न होकर जन-साधारण की, लोगों की, जनता की होती है इस लिये उसे 'वेश्या' कहा जाता है। हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वैदिक-

काल में यहाँ सामाजिक-व्यवस्था मे सब लोग 'विश' कहलाते थे, 'जनता' कहलाते थे, इस जनता के मुख्य तौर पर दो ही विभाग थे—'आर्य' तथा 'दस्यु', और आजकल जैसा जात-पाँत या वर्ण-व्यवस्था का-सा कोई भेद नही था, सारा-का-सारा समाज एक था, और अगर कोई भेद था तो अच्छे व्यक्तियो (आर्यों) और बुरे व्यक्तियो (दस्युओं) का था। यह भेद जन्म पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित था। इस भेद को 'आचार-परक-भेद' (Ethical) कहा जा सकता है, और कुछ नही।

२. उत्तर-वैदिक-काल में जाति-व्यवस्था

(कर्म के आधार पर चार वर्ण)

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, तथा अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। इनमे ऋग्वेद सब से पुराना है। इस समय को वैदिक-काल कहते हैं। वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था नही थी। उस समय चार वर्णों का कहीं जिक्र नही आता। अगर वर्णों का जिक्र आता भी है, तो सिर्फ दो का—"उभौ वर्णौ ऋषिरूग्र· पुपोष" (ऋक् १-१७९-६)—अर्थात्, उग्र ऋषि ने दोनो वर्णों को पुष्ट किया। वैदिक-काल मे वर्णो या जात-पाँत के आधार पर होने वाला ऊच-नीच का भेद भी नही था। ऋग्वेद (५-६०-५) मे लिखा है—"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सभ्रातरो वावृधु सौभगाय"—तुममे से न कोई ऊँचा है न नीचा, तुम सब भाई-भाई हो, इसलिये सौभाग्य पाने के लिये ही भाई-भाई की तरह वरतो। एक वर्ण का अर्थ होता है—एक ही काम-धन्धा करना परन्तु ऋग्वेद (९-११२-३) मे लिखा है—"कारुरह ततो भिषक् उपलप्रक्षिणी नना नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव"—मैं बढई हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती है। इस सब से ज्ञात होता है कि वैदिक-काल में जाति-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान रूप नही था। वैदिक-काल के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषदो का काल आता है। इसे

उत्तर-वैदिक-काल कहा जाता है। हमने देखना है कि इस उत्तर-वैदिक-काल में सामाजिक-व्यवस्था का क्या रूप हो गया। क्या वह वैदिक-काल के 'आर्य' तथा 'दस्यु' के रूप मे ही रही या इसका रूप बदल गया।

हम कह आये हैं कि वैदिक-काल मे चातुर्वर्ण्य की-सी वर्ण-व्यवस्था नही थी, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उस काल में वर्ण-व्यवस्था का विचार भी नही था। समाज का इस प्रकार का विभाग हो सकता है—यह 'विचारात्मक कल्पना' (Theoretical idea) उस समय मौजूद थी। ऋग्वेद के १०वे मडल मे आता है—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः उरू तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।"—अर्थात्, जैसे मानव-शरीर में सिर है, वैसे समाज भी एक प्रकार का विशाल मानव-शरीर है जिसके सिर ब्राह्मण हैं, जैसे मानव-शरीर में बाहू रक्षा का काम करते हैं वैसे समाज रूपी मानव-शरीर में राजन्य (क्षत्रिय) रक्षा का काम करते हैं, पेट तथा जंघाओं का काम वैश्य, पैरो का काम शूद्रों का है। यह कल्पना ऋग्वेद मे पायी जाती है, परन्तु वैदिक-काल मे यह विचार कल्पना तक ही सीमित था, इसे क्रियात्मक रूप नही दिया गया था। उत्तर-वैदिक-काल में इस विचार को क्रियात्मक रूप दिया गया और समाज की रचना—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार पेशो के आधार पर की गई। अब तक समाज का विभाग अच्छाई तथा बुराई पर आश्रित होने के कारण 'आचार-परक' (Ethical) था, परन्तु अब यह 'श्रम-विभाग' (Division of labour) पर आश्रित होने के कारण 'कर्म-परक' (Professional) हो गया; वैदिक-काल में यह विभाग विचारात्मक-वर्गीकरण (Theoretical classification) था, उत्तर-वैदिक-काल में यह विभाग क्रियात्मक-वर्गीकरण (Practical classification) हो गया। क्रियात्मक रूप मे आने पर भी उत्तर-वैदिक-काल की सामाजिक वर्गीकरण की व्यवस्था को 'अनावृत जाति-व्यवस्था' (Open caste system) कहा जा सकता

है, 'आवृत जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) नहीं कहा जा सकता। 'अनावृत' तथा 'आवृत' में क्या भेद है? 'अनावृत' में हर वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण को हर दूसरे वर्ण में परिवर्तित कर सकता है, ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकता है, क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता है, शूद्र चाहे तो ब्राह्मण बन जाये, ब्राह्मण चाहे शूद्र बन जाये; 'आवृत' में हर-कोई अपने-अपने वर्ण में रहता है। 'अनावृत' व्यवस्था कर्म पर आश्रित रहती है, 'आवृत' व्यवस्था जन्म पर आश्रित रहती है। जो जैसा कर्म करेगा वह उसी वर्ण का कहलायेगा—यह 'अनावृत वर्ण-व्यवस्था' का आधार है; जो जिस घर में जन्म लेगा वह उसी वर्ण का कहलायेगा—यह 'आवृत वर्ण-व्यवस्था' का आधार है। उत्तर-वैदिक-काल की सामाजिक व्यवस्था आजकल की जाति-व्यवस्था की तरह की नहीं थी। आजकल की जाति-व्यवस्था में जाति बदली नहीं जा सकती, उस समय की जाति-व्यवस्था में जाति बदली जा सकती थी क्योंकि वह सिर्फ काम-धंधे के आधार पर बनी थी। जो पढ़ाने-लिखाने का काम करे वह ब्राह्मण, जो देश की रक्षा का काम करे वह क्षत्रिय, जो वणिज-व्यापार करे वह वैश्य, जो मेहनत-मजदूरी करे वह शूद्र। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—"धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।"—अर्थात्, धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है, अधर्माचरण से उत्तम वर्ण निकृष्ट वर्ण को प्राप्त होता है।

इस सबसे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक-काल में यद्यपि वर्ण-व्यवस्था ने क्रियात्मक रूप धारण कर लिया था तथापि उस समय इसका रूप 'अनावृत (खुली) जाति-व्यवस्था' का था, 'आवृत (बंद) जाति-व्यवस्था' का नहीं। पुराणों तथा मनुस्मृति आदि में भी 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'—अर्थात् कर्म के अनुसार ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है—इत्यादि पाया जाता है जिसका अभिप्राय यही है कि उत्तर-वैदिक-काल में 'अनावृत जाति-व्यवस्था' थी, यह व्यवस्था

लचकीली थी, रूढ़ नहीं हुई थी, कर्म-परक थी, जन्म-परक नहीं थी, इसमें रोटी-बेटी आदि के व्यवहार की रुकावट भी नहीं थी। इसीलिये उत्तर-वैदिक-काल तक के समय की व्यवस्था को हमने 'वर्ण-व्यवस्था' का नाम दिया है, 'जाति-व्यवस्था' का नाम नहीं दिया क्योंकि हमारी दृष्टि से 'वर्ण-व्यवस्था' का अर्थ है 'अनावृत सामाजिक व्यवस्था', अर्थात् खुली व्यवस्था तथा 'जाति-व्यवस्था' का अर्थ है 'आवृत सामाजिक व्यवस्था', अर्थात् बन्द व्यवस्था।

३. उत्तर-वैदिक-काल की जाति-व्यवस्था में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की स्थिति

यह हम पहले कह आये हैं कि वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, परन्तु वेद में वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार अवश्य था। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः"—यह ऋग्वेद का मंत्र इस विचार को ही सूचित करता है। यह विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के काल में, जिसे हम उत्तर-वैदिक-काल कह आये हैं, क्रिया का रूप धारण कर गया। इस उत्तर-वैदिक-काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वर्णों का उसी प्रकार सामाजिक परीक्षण होने लगा जैसे आजकल के समाज में समाजवाद (Socialism) तथा कम्यूनिज्म (Communism) का परीक्षण हो रहा है। उत्तर-वैदिक-काल के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जो उस समय की सामाजिक-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। एक हैं, ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा दूसरे हैं, उपनिषद्। ब्राह्मण-ग्रन्थ उस समय की ब्राह्मणों की कृतियाँ हैं, उपनिषद् उस समय के क्षत्रियों की कृतियाँ हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों से ब्राह्मणों का महत्व प्रदर्शित होता है, उपनिषदों से क्षत्रियों का महत्व प्रदर्शित होता है।

इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल के बाद जब वर्ण-व्यवस्था क्रियात्मक रूप में आयी तब वर्णों में जन्मगत भेद नहीं था, कर्मगत भेद ही था, अच्छे कर्म वाला ब्राह्मण

हो सकता था, बुरे कर्म वाला अपने वर्ण से गिर जाता था। इस समय धर्म-कर्म का काम ब्राह्मण के सुपुर्द था, और ब्राह्मण ने धर्म के क्षेत्र में यज्ञ-यागादि तथा अनेक प्रकार के विधि-विधान-अनुष्ठान बनाकर धार्मिक विधानो को अत्यन्त जटिल बना दिया था। उस जटिलता के नमूने ही ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। धार्मिक विधि-विधानो की इस जटिलता को देख-कर उस समय के कुछ क्षत्रिय राजाओ ने धार्मिक-क्षेत्र में भी चिन्तन शुरू किया। इन राजाओ मे जनक, अश्वपति, कैकेय आदि का नाम मुख्य है। इनकी खोजो का परिणाम ब्रह्म, पुनर्जन्म, आत्मा आदि तत्व हैं और इन तत्वो को इन क्षत्रिय राजाओ ने उपनिषदो के रूप मे सर्व-साधारण के सम्मुख रखा। उपनिषदो को पढने से जगह-जगह पता चलता है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्म-विद्या सीखने के लिये क्षत्रिय राजाओं की शरण मे गये। राजा जनक के पास श्वेतकेतु तथा याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मण अध्यात्म-विद्या का उपदेश लेने गये, राजा कैकेय अश्वपति के पास प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न आदि ब्राह्मण गये। इस काल में ब्राह्मणो के यज्ञ-यागादि तथा क्षत्रियो की अध्यात्म-विद्या की चर्चा करते हुए एक उपनिषद् मे कहा है कि ये यज्ञ-यागादि जिन पर ब्राह्मण लोग बहुत बल देते है—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा.'—ऐसे बेडे हैं जिनमे भव-सागर को पार नही किया जा सकता।

कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषदो के समय वर्ण-व्यवस्था का श्रीगणेश हो गया था, और ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे आध्यात्मिक-क्षेत्र मे भी एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति चल पडी थी। ब्राह्मण लोग यज्ञ-यागादि पर बल देते थे, क्षत्रिय लोग ब्रह्म-ज्ञान आदि पर बल देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण लोग समाज मे अपनी सबसे ऊची स्थिति बनाने में और क्षत्रिय अपनी ऊची स्थिति बनाने मे जुट गये।

यह वाद-विवाद बौद्ध-काल तक चलता रहा। बौद्ध-काल के साहित्य मे जगह-जगह ब्राह्मणो की निन्दा की गई है। उपनिषद्-काल से

लेकर बौद्ध-काल तक क्षत्रियों का प्राबल्य रहा, वे शारीरिक बल में ही नहीं, आध्यात्मिक-क्षेत्र में भी अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न करते रहे। जातक-कथाओं में क्षत्रियों को सबसे उच्च वर्ण कहा गया, ब्राह्मणों के लिये 'नीच ब्राह्मण'-'तुच्छ-ब्राह्मण' आदि शब्द प्रयुक्त किये गये।

४. स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों के काल की जाति-व्यवस्था

(जन्म के आधार पर चार जातियाँ)

उपनिषदों के काल से लेकर बौद्ध-काल तक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में अपनी-अपनी स्थिति को एक-दूसरे से ऊंचा कहने-कहलाने के प्रयत्न होते रहे, और इसमे क्षत्रियो का पक्ष प्रबल रहा। परन्तु इसके बाद स्मृतियों का काल आया। इस काल मे ब्राह्मणो का पक्ष प्रबल हो गया और उनकी स्थिति समाज में सर्वोपरि मानी जाने लगी। यह किस प्रकार हुआ—यह बात कल्पना का विषय है परन्तु फिर भी उस कल्पना का थोडा-बहुत आधार है। वह आधार क्या है?

भारत मूलतः धर्म-प्रधान देश है और जो व्यक्ति या जो समुदाय सिर्फ धर्म-कार्य में लगा हुआ हो उसके सामने सिर झुकाना इस देश की परम्परा का स्वभाव है। यह बात अन्य देशो में भी पायी जाती है, प्राचीन-काल मे तो विशेष रूप से पायी जाती थी। ब्राह्मणों का काम क्योंकि सिर्फ धर्म-कार्य था, क्षत्रियो का धर्म के क्षेत्र मे केवल पदार्पण था, उनका असली क्षेत्र देश-रक्षा था, इसलिए अन्त में ब्राह्मणों को सर्वोपरि माना जाने लगा।

ब्राह्मणो की स्थिति उभर आने का दूसरा कारण यह था कि क्षत्रियो का प्रतिनिधि धर्म अब बौद्ध-धर्म हो चुका था, और बौद्ध-धर्म नास्तिकता का रूप धारण कर चुका था। भारत की भूमि में नास्तिकता को आधार बनाकर चलने वाले को सफलता नही मिल सकती थी क्योंकि यह भूमि अब तक मुख्य तौर पर आस्तिकता के लिए उपजाऊ रही है।

स्मृति-काल में जब ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की एक-दूसरे से बढने की प्रतिस्पर्धा समाप्त हो चुकी थी और ब्राह्मणों को समाज का मूर्धन्य

माना जाने लगा था, तब ब्राह्मणों ने अपने अधिकार को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था का रूप दे दिया। इस कथन का क्या अर्थ है ? इस कथन का यह अर्थ है कि अब तक तो वर्ण-व्यवस्था लचकीली व्यवस्था थी, इसका आधार जन्म न होकर कर्म था, यह 'अनावृत' (Open)-व्यवस्था थी, अब यह लचकीली न रही, इसका आधार कर्म न होकर जन्म हो गया, 'आवृत' (Closed)-व्यवस्था हो गई, जो जन्म का ब्राह्मण वह ब्राह्मण ही रहेगा, चाहे वह ब्राह्मण के कर्म करता हो या न हो, जो जन्म का शूद्र वह शूद्र ही रहेगा, चाहे वह कर्म से कितना ही पंडित क्यों न हो। इस समय जाति-व्यवस्था में जो ऊंच-नीच का भेद, बड़े-छोटे का भेद, अहंकार की भावना, श्रेणी-बद्धता (Hierarchy) पायी जाती है, अपने को जन्म से बड़े या छोटेपन की भावना पायी जाती है, यह वैदिक-युग की देन न होकर स्मृति-युग की देन है। इस समय स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों तथा शूद्रों के प्रति क्या-क्या विधान बनाये, किस प्रकार जन्म के विचार को पुष्ट किया, अपने को बडा घोषित किया—यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

"मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण सबसे बड़े हैं और सृष्टि के प्रभु या स्वामी हैं।"—(मनु १–९३)

"देवता लोग ब्राह्मणों के मुख द्वारा ही भोजन करते हैं, इसलिए संसार में ब्राह्मण से बढ़कर कोई प्राणी नहीं।"—(मनु १–९५)

"संसार में जो-कुछ है, सब ब्राह्मण का है क्योंकि जन्म से ही वह सबसे श्रेष्ठ है।"—(मनु १–१००)

"ब्राह्मण जो-कुछ भी खाता, पहनता और देता है, वह सब उसका अपना ही है। संसार के सब लोग ब्राह्मण की कृपा से ही खाते-पीते और लेते-देते हैं।"—(मनु १–१०१)

स्मृति-काल में शूद्रों के सम्बन्ध में जो नियम बनाए गए वे अत्यन्त भेद-भाव को उत्पन्न करने वाले थे, तथा-कथित निम्न-जातियों पर

अत्याचार करने वाले थे। उदाहरणार्थ, इन नियमों में कहा गया था कि ब्राह्मण निःसंकोच शूद्र का धन ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ नही, उसका सब धन उसके स्वामी (ब्राह्मण) का है। —(मनु ८-४१७)

मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक २७० में लिखा है कि यदि शूद्र द्विजातियो को कडी अर्थात् चुभने वाली बात कहे तो उसकी जीभ काट डालनी चाहिए क्योंकि वह निकृष्ट अंग से उत्पन्न हुआ है।

इस समय के विधानों में शूद्रों को सब अधिकारों से वंचित किया गया, अन्यो के विषय में नही लिखा गया, इसका कारण यही हो सकता है कि श्रेणी-शृंखला मे जो सबसे नीचे के स्तर पर था उसे जब सब अधिकारों से वंचित कर दिया गया, तो ऊपर के स्तरो के, वैश्यो तथा क्षत्रियो के अधिकार इसी तुलना में अपने-आप कम हो गये। सब से नीचे वाले को जब धकेला, तब उससे ऊपर वालो को भी अपेक्षाकृत उतना ही नीचा हो जाना स्वाभाविक था।

यद्यपि स्मृति-काल मे जन्म की जाति का विचार प्रबल हो गया, तो भी इसका यह मतलब नही कि कर्म से वर्ण-व्यवस्था का विचार सर्वथा लुप्त हो गया। इस काल मे दोनो विचार-धाराएँ आपस में टक्कर लेती रही, दोनो विचार विचारात्मक दृष्टि से तथा क्रियात्मक दृष्टि से इस समय पाये जाते हैं। स्मृतियो में जन्म से जाति की बात पाई जाती है, कर्म से जाति की बात भी पायी जाती है। दोनो प्रकार की बातो का पाया जाना सिद्ध करता है कि यद्यपि इस काल में जन्म की प्रधानता हो चली थी, तब भी कर्म सिद्धान्त को लेकर दोहाई देने वालो की कमी न थी। इतना ही नहीं कि विचार-क्षेत्र में दोनों प्रकार के लोग उस समय मौजूद थे, क्रिया के क्षेत्र में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो ब्राह्मण होते हुए अन्य जातियो में ब्याह-शादी को अनुचित नही समझते

थे। उस समय भी अनेक अन्तर्जातीय विवाह होते थे। ये अन्तर्जातीय विवाह दो तरह के थे—अनुलोम तथा प्रतिलोम। अनुलोम-विवाह वे थे जिनमें उच्च कुल का पुरुष नीच कुल की कन्या से विवाह करता था, प्रतिलोम-विवाह वे थे जिनमे नीच कुल का पुरुष उच्च कुल की कन्या से विवाह करता था। इस समय अनुलोम विवाह स्मृति द्वारा अनुमोदित समझे जाते थे, प्रतिलोम नहीं, परन्तु होते दोनो थे। उदाहरणार्थ, शिव पुराण (उत्तरार्ध, अध्याय ३०) में लिखा है कि पिप्पलाद ब्राह्मण ने क्षत्रिया पद्मा से विवाह किया। देवी भागवत पुराण (स्कध ४) मे लिखा है कि विश्वामित्र ने देवलोक की अप्सरा मेनका से शकुन्तला को उत्पन्न किया जिसका राजा दुष्यन्त से विवाह हुआ। दुष्यन्त का पुत्र भरत हुआ जिससे इस देश का नाम भारत पडा। ये अनुलोम विवाहो के उदाहरण हैं। इसी प्रकार प्रतिलोम विवाह भी होते थे। उदाहरणार्थ, भागवत पुराण (स्कध ६।२१) मे लिखा है कि राजा नीप क्षत्रिय थे, उन्होने ब्राह्मण शुक्राचार्य की पुत्री कृत्वी से विवाह किया जिससे ब्रह्मदत्त उत्पन्न हुआ। इसी कुल मे मुद्गल उत्पन्न हुआ जिसके नाम पर ब्राह्मणो का मौद्गल्य गोत्र चला।

५. वर्तमान-काल की जाति-व्यवस्था
(जात-पांत)

स्मृतियो तथा धर्मशास्त्रो के काल को भारतीय इतिहास का मध्य-युग कहा जा सकता है। मध्य-युग के बाद से वर्तमान-काल तक जाति-व्यवस्था की जटिलता दिनो-दिन बढ़ती गई। इस काल मे जाति-व्यवस्था निश्चित रूप से कर्म-परक न रहकर जन्म-परक हो गई। जातियो के जन्म-परक होने के बाद अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहो का सर्वथा निषेध हो गया। प्रत्येक जाति अपनी जाति मे ही विवाह सम्बन्ध कर सकती थी, अपनी जाति के बाहर नही। ब्राह्मण ब्राह्मणो में ही विवाह-सम्बन्ध करता था, क्षत्रिय क्षत्रियो में, वैश्य वैश्यो तथा शूद्र शूद्रो मे। जातियो के भोजन के सम्बन्ध में भी प्रतिबन्ध

बने। रोटी-बेटी का व्यवहार अपनी जाति में सीमित हो गया। इस काल में प्रतिबन्ध के नियम इतने बढ़े कि अछूतपन की एक नवीन समस्या ने जन्म ले लिया। एक दृष्टि से यह कहना असंगत न होगा कि अछूतपन की समस्या जाति-व्यवस्था की ही उपज है। अभी तक चार जातियाँ थी। अब प्रत्येक जाति में उप-जातियाँ बनने लगी। प्रत्येक जाति तथा उपजाति की अपनी-अपनी बिरादरी थी, जो बिरादरी के नियमो का उल्लघन करता था उसे बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया जाता था। इस बहिष्कार के भय के कारण जाति-उपजाति के समर्थको का बल बढता गया। इस समय ब्राह्मणो में गौड, सारस्वत, सनाढ्य, सरजूपारी, कान्यकुब्ज आदि अनेक अवान्तर भेद हो गये, क्षत्रियो में चोपडा, बेरी, बुंजाही, सरीन, कपूर, खन्ना, कक्कड आदि अनेक अवान्तर भेद हो गये, वैश्यो मे अग्रवाल, ओसवाल, मवाल, बारहसेनी, लोहिया आदि अनेक अवान्तर भेद हो गए। इन भेदो का आधार कही भौगोलिक है, कही और कुछ। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण मे पजाब के हरियाना प्रान्त (रोहतक, पानीपत, करनाल, सोनीपत) तथा मारवाड़ एवं सरयु नदी के उत्तर के प्रदेश को गौड प्रदेश कहा गया है। इस प्रदेश के ब्राह्मण अपने को गौड ब्राह्मण कहने लगे और गौडो में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करने लगे। सरस्वती नदी के किनारे रहने के कारण सारस्वत तथा कन्नौज में रहने के कारण कान्यकुब्ज ब्राह्मण हुए। ये लोग जब अपने-अपने प्रदेशो से चले भी गये तब भी अपने को उसी नाम से पुकारते रहे। क्षत्रियो में बेरी जाति के लोग वे थे जिनका पूर्वज बेरी के नीचे पैदा हुआ। बुंजाही खत्री तथा सरीन खत्रियों की उत्पत्ति की भी एक कहानी है। बादशाह अलाउद्दीन खिलजी खत्रियों मे विधवा-विवाह चलाना चाहते थे। कुछ खत्रियों ने इसका विरोध किया, और ५२ खत्रियो का एक प्रतिनिधि मंडल इस विरोध का आवेदन-पत्र लेकर बादशाह के पास गया। इन बावन खत्रियों की सतान बावनजी या 'बुंजाही' कहलाई, और जिन खत्रियों ने बादशाह

के कानून को मान लिया वे 'शरअ आईन' कहलाये। यही 'शरअ आईन' बिगड कर 'सरीन' बन गया। लोहे के व्यापारी 'लोहिया' कहलाये, कपड़े के व्यापारी 'कापडिया' कहलाने लगे। इस प्रकार कहीं भौगोलिक कारण से, कही व्यापार-धधे के कारण से, कही अन्य किसी कारण से मध्य-युग से वर्तमान-युग तक जातियों-उपजातियो का विभाग दिनों-दिन बढ़ता चला गया और इन जातियो-उपजातियो के अपने-अपने विधि-विधान बनते चले गये जिनसे मनुष्य-मनुष्य तथा जाति-जाति मे भेद बढ़ता चला गया। आज जाति-व्यवस्था अपने सम्पूर्ण दोषो के साथ हिन्दू-समाज को घेरे हुए है और एक बिल्कुल 'आवृत' (Closed)-व्यवस्था बन गई है।

६. वर्तमान-काल में जाति-व्यवस्था में परिवर्तन के तत्व

ऊपर हमने जो विवेचन किया उससे स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था का रूप सनातन-काल से एक-सा नही रहा। वैदिक-काल मे इसका रूप आर्य और दास का था, उत्तर-वैदिक-काल मे इसका रूप 'अनावृत वर्ण-व्यवस्था' (Open Caste System) का था, स्मृति-काल मे इसका रूप 'आवृत जाति-व्यवस्था' (Closed Caste System) का हो गया, वर्तमान-काल मे यह जाति-उपजातियो का रूप धारण कर गया। आज जाति-व्यवस्था फिर अनेक परिवर्तनो मे से गुजर रही है, विगठित हो रही है। आज इस व्यवस्था मे जो परिवर्तन हो रहे हैं उनके अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य कारण निम्न हैं :—

(क) समाजवादी विचारधारा (Socialism)—हमने देखा कि भारतीय-समाज के वर्गीकरण मे तीन तत्त्व हैं—कर्म, जन्म तथा भेद-भाव। वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था दोनो में भेद-भाव का तत्व आधारभूत तत्त्व है। इन दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ का अभिप्राय यह है कि मनुष्य मनुष्य मे भेद तो है और रहेगा, परन्तु वर्ण-व्यवस्था

इस भेद का आधार कर्म (Effort) बतलाती है, जाति-व्यवस्था इस भेद का आधार जन्म (Birth) बतलाती है। मनुष्य-मनुष्य में जो भेद दिखलाई देता है, वर्ण-व्यवस्था उस भेद के कारक-तत्त्व 'कर्म' पर बल देती है, जाति-व्यवस्था उस भेद के कारक-तत्व 'जन्म' पर बल देती है। जब तक 'व्यक्तिवाद' (Individualism) का बोलबाला था, तब तक 'कर्म' या 'जन्म' पर बल दिया जाता था, और मनुष्य-मनुष्य के भेद को स्वाभाविक माना जाता था। आज समय बदल चुका है। आज 'व्यक्तिवाद' की जगह 'समाजवाद' (Socialism) का बोलबाला है। आज 'कर्म' या 'जन्म' का भेद तो क्या, हर प्रकार का भेद-भाव मिटाया जा रहा है, इसलिए वर्तमान-युग की विचार-धारा वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था दोनो को एक जबर्दस्त टक्कर दे रही है। आज की विचार-धारा का कहना यह है कि मनुष्य-मनुष्य में भेद जन्म या कर्म के कारण नहीं, यह भेद हमारा, समाज का बनाया हुआ है, और जैसे समाज ने इसे बनाया है वैसे समाज इसे दूर भी कर सकता है।

(ख) **नगरीकरण तथा उद्योगीकरण** (Urbanization and Commercialization)—जब देश में बड़े-बड़े नगर नहीं बने थे, छोटे गाँव या छोटे शहर थे, तब जाति-व्यवस्था का चल सकना आसान था। हर-कोई हर-दूसरे को जानता था। अगर किसी का हुक्का-पानी बन्द कर दिया गया, तो वह मुसीबत मे फंस जाता था, इसलिए हर-कोई जाति के बन्धन में बधा रहता था। अब बडे-बड़े नगरों के बन जाने से कोई किसी को जानता-पहचानता नही, और जाति के बन्धनों को तोड देने से किसी का कुछ बनता-बिगडता नही। इसीलिए गाँवों में जहाँ छोटे समुदाय हैं, जहाँ वैयक्तिक-संपर्क हो सकता है, वहाँ जाति के बन्धन कठोर हैं, शहरों में वे बन्धन शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार व्यापार के एक जगह केन्द्रित हो जाने से शहरो में भीड़-भडक्का हो जाता है, अपने चूल्हे पर ही रोटी पका सकना कठिन हो जाता है,

होटलो में लोग खाते हैं, रेलो में भंगी-चमार-ब्राह्मण एक-साथ कन्धे-से-कधा मिलाकर सफ़र करते हैं, व्यापार-धन्धे के लिए हर-किसी के संपर्क में आना पडता है—इन कारणो से भी जाति के बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं।

(ग) **आर्थिक-दृष्टिकोण की प्रधानता** (Ecohomic view of life)—अ ब जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण आर्थिक होता चला जा रहा है। धन-सम्पत्ति मे जो बडा है वह बडा, बिना पैसे वाला किसी काम का नही। इस हालत मे नीच वश का भी सम्पत्तिशाली होने से उच्च-स्थिति प्राप्त कर सकता है। आज धन सभी कमा सकते है—उच्च-कुल के भी, नीच-कुल के भी। जो धन कमा ले वह किसी खानदान का क्यो न हो, सब उसके साथ खाते-पीते हैं, उसके साथ उठते-बैठते हैं। आर्थिक-दृष्टिकोण की प्रधानता से जन्म की जाति-व्यवस्था अपने-आप ढीली पडती जा रही है, अगर कहा जाय कि 'जाति-प्रथा' (Caste system) के स्थान मे 'वर्ग-प्रथा' (class system) आती जा रही है, तो कोई अत्युक्ति नही। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियो के स्थान मे धनी-निर्धन—ये वर्ग बनते जा रहे है, और जैसे कर्म की वर्ण-व्यवस्था के बाद जन्म की जाति-व्यवस्था आई, वैसे ही अब जाति-व्यवस्था के बाद वर्ग-व्यवस्था आ रही है, और इस सारे विकास की दिशा वर्ण से जाति, जाति से वर्ग और वर्ग से वर्ग-हीन समाज की तरफ जा रही है। अन्य देशो मे तो यह प्रक्रिया हो ही रहीहै, अपने देश मे भी सामाजिक-विकास का प्रवाह इसी दिशा की तरफ है।

(घ) **आधुनिक-शिक्षा का प्रभाव**—प्राचीन-शिक्षा और आधुनिक-शिक्षा मे यह भेद है कि प्राचीन-शिक्षा ब्राह्मणो के हाथ में थी, नवीन-शिक्षा का सगठन भारत के अंग्रेज शासको ने किया था। शिक्षा के ब्राह्मणो के हाथ मे होने के कारण प्राचीन-शिक्षा मे जाति-व्यवस्था के प्रति शिष्यों मे अटूट श्रद्धा-भक्ति भर दी जाती थी और उस शिक्षा में पले हुए जाति-व्यवस्था को एक अटल-व्यवस्था समझते थे। अछूतो को

दूसरे लोग ही अछूत नहीं समझते थे, अछूत स्वयं अपने को पिछले जन्म के किन्ही पापो के कारण अछूत समझते थे। अंग्रेजो के युग मे आधुनिक-शिक्षा का प्रचार हुआ, शिक्षा ब्राह्मणो की ही बपौती नही रही। प्राचीन-शिक्षा धर्म-मूलक थी, आधुनिक-शिक्षा धर्म-निरपेक्ष है। इसका जहाँ धर्ममात्र को धक्का लगा, वहाँ जाति-व्यवस्था को भी इसका धक्का पहुँचा और इस शिक्षा मे पले हुओ की इस व्यवस्था में श्रद्धा नही रही। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी-शिक्षा ने कुछ नवीन विचारों को जन्म दिया जो जाति-व्यवस्था के विरोधी विचार थे। उदाहरणार्थ, जाति-व्यवस्था मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव पर टिकी हुई थी, वर्तमान-शिक्षा ने एकता, समानता, विश्व-बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्रता आदि पश्चिम की हवा को यहाँ ला बहाया। इन नवीन-विचारो के प्रभाव से भी जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले पडने लगे।

(ङ) **समाज-सुधार आन्दोलन**—आधुनिक-शिक्षा का प्रभाव यह हुआ कि समाज-सुधार आन्दोलन उठ खडा हुआ। बगाल में ब्राह्मो-समाज तथा उत्तर-भारत मे आर्य-समाज ने समाज-रूपी वृक्ष में घुन की तरह लगे हुए अन्ध-विश्वासो को निकाल कर बाहर करना शुरू किया। इन अन्ध-विश्वासों मे जन्ममूलक जात-पाँत भी थी। इसी आदोलन के उग्र-रूप मे पंजाब में जात-पाँत-तोड़क-मडल का जन्म हुआ, जिसके सदस्य यह व्रत लेते थे कि वे जन्म की जाति को तोड कर विवाह करेंगे।

(च) **राजनैतिक आन्दोलन**—आधुनिक-युग में देश को स्वतन्त्र करने के लिए महात्मा गाधी ने जो राजनैतिक आन्दोलन उठाया, अस्पृश्यता-निवारण उसका एक अभिन्न अग था। यह हम पहले ही कह आये हैं कि जन्म की जात-पाँत का एक आवश्यक परिणाम अस्पृश्यता का विचार था। जब अस्पृश्यता के विचार को धक्का लगा तब जाति-व्यवस्था का ढीला पड जाना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से राजनैतिक आन्दोलन ने जाति-व्यवस्था के विघटन में बहुत बडा हिस्सा लिया।

(छ) राज्य की तरफ़ से कानूनी हस्तक्षेप—जाति-व्यवस्था के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह नही हो सकते थे, और अस्पृश्य कहे जाने वाले व्यक्तियों को मन्दिरों मे अन्य द्विजातियो के समान प्रवेश करने का, उनके कुंओ से पानी भरने का अधिकार नही था। आधुनिक-युग मे इस प्रकार की रूढियो को राज्य भी बर्दाश्त नही कर सकता था और इन सब बातो को रोकने के लिए कानून बनने लगे जिनसे जाति-व्यवस्था की जड़ें हिल गईं। उदाहरणार्थ, अन्तर्जातीय-विवाहो को वैध करार देने के लिये १८७२ मे 'विशेष-विवाह-अधिनियम' (Special Marriage Act) बना। १९२३ तथा १९५४ मे इस कानून मे फिर संशोधन हुआ। इस कानून की चर्चा आगे के एक अध्याय में की गई है। जाति के एकाधिकार पर प्रहार करने के लिए १८५० में 'जाति निर्योग्यता निवारक अधिनियम' (Caste Disabilities Removal Act) बना, और १९५५ में 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम' (The Untouchability—Offence—Act) बना जिसके अनुसार किसी प्रकार की भी अस्पृश्यता को क्रियात्मक रूप देने वालो को अपराधी घोषित कर दिया गया। उक्त अधिनियम मे कहा गया है कि अगर कोई किसी को सार्वजनिक स्थान पर जाने से या स्नान करने से जात-पाँत की वजह से रोकेगा तो उसे छ: महीने की सज़ा और ५०० रु० तक का दण्ड दिया जा सकेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय समाज का वर्गीकरण पहले आर्य तथा शूद्र के रूप में, फिर वर्ण-व्यवस्था के रूप मे, फिर जाति-व्यवस्था के रूप में से होता हुआ अन्य देशो की तरह अब वर्ग-व्यवस्था का रूप धारण करता जा रहा है। हमने यह भी देखा कि जाति-व्यवस्था अपने पहले रूप में अब नहीं टिक सकती, इसका विगठन होता जा रहा है, और वर्तमान-युग में ऐसे तत्व बढते जा रहे हैं, जो इसके वर्तमान रूप को परिवर्तित करते जा रहे हैं। इन सब परिवर्तनो के हो जाने से ऐसा समय दूर नही रहेगा जब जाति-व्यवस्था नाम-मात्र की रह जायगी।

प्रश्न

१. क्या जाति-व्यवस्था भारत के वैदिक-काल से चली आ रही है ?
२. भिन्न-भिन्न समयों में भारतीय समाज के वर्गीकरण के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?
३. जाति-व्यवस्था बदलती रही है—इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
४. वर्तमान-युग में जाति-व्यवस्था में परिवर्तन करने वाले तत्व क्या हैं ?

३

संयुक्त-परिवार

(JOINT FAMILY)

१. संयुक्त-परिवार की उत्पत्ति का कारण तथा रूप

परिवार का आधार 'प्राणि-शास्त्रीय एषणाएँ' (Biological drives) तथा 'आर्थिक-एषणाएँ' (Economic drives) है। कैसे ? स्त्री-पुरुष मे 'यौन-भावना' (Sex drive) है, जब तक उसे कानूनी रूप न दे दिया जाय, तब तक समाज उसको खुली छूट नही देता। स्त्री-पुरुष मे 'सन्तान की कामना' (Procreative drive) भी है। ये दोनों एषणाएँ परिवार का 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) आधार हैं। इसके अतिरिक्त भूख-प्यास हर-एक को लगती है, सुरक्षा हर-एक चाहता है। भूख-प्यास के कारण 'बुभुक्षा' (Hunger drive) तथा जीवन की रक्षा के कारण 'सुरक्षा' (Security drive) की चाह भी हर-एक मे है। ये दोनों एषणाएँ 'आर्थिक' (Economic) हैं। इन 'प्राणि-शास्त्रीय' तथा 'आर्थिक' एषणाओ को पूर्ण करने के लिए ही परिवार बना है। इन एषणाओ के परिणाम-स्वरूप परिवार मे पति-पत्नी तथा सन्तान होते हैं, परन्तु शुरू-शुरू मे जब परिवार का सगठन हुआ था, उस समय केवल इन तीन से तो परिवार नही बना होगा। उस समय एक-दो के नहीं, अनेक व्यक्तियो के सहयोग से भोजन-प्राप्ति जैसा कठिन कार्य सम्पन्न होता

होगा। एक पूर्वज से परिवार के जितने लोग उत्पन्न हुए थे सब साथ रहते थे। एक माता-पिता की पाँच सन्तानें हैं। खेती-बाड़ी के लिए माता-पिता के अतिरिक्त इन पाँचो की जरूरत थी। कोई हल चलाता, कोई बीज बोता, कोई खेती की रक्षा करता—सब कामों के लिए अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता थी। सब की साझी जमीन में तो सब का गुज़र चल सकता था, जमीन के टुकड़े-टुकडे करके कौन कितना पैदा कर सकता था? परिवार में पति-पत्नी और बच्चे ही नही थे, चाचा-ताऊ और उनके बच्चे—सब शामिल थे। किसी के सन्तान न होती तो गोद ले लेता था, अकेला आदमी कहाँ तक काम कर सकता है, इस प्रकार का जो परिवार बनता था, उसे 'सयुक्त-परिवार' (Joint Family) कहते थे। इस परिवार मे अविवाहिता कन्याएँ और अविवाहिता बहनें भी शामिल थीं। यह ध्यान देने की बात है कि बहनें तथा कन्याएँ तभी तक इस 'सयुक्त-परिवार' का अंग मानी जाती थी जब तक उनका विवाह नही हो जाता था। विवाह होने के बाद वे दूसरे परिवार का अंग बन जाती थी, और पहले परिवार से उनका सपत्ति-सबधी कोई लगाव नहीं रह जाता था, जिस परिवार मे वे जाती थीं उसमें अपने पति के साथ उनका आर्थिक-सम्बन्ध जुड़ जाता था। विवाह से पहले ही कन्या अपने पिता या भाई से अपने भरण-पोषण की अधिकारिणी हो सकती थी, उसके बाद इस परिवार का उसके भरण-पोषण के साथ कोई सम्बन्ध नही रह जाता था। जब तक वह इस परिवार मे थी तब तक वह अपने पिता तथा भाई पर आश्रित थी, जब वह उस परिवार मे चली गई तब अपने पति पर आश्रित हो गई; यहाँ रहते हुए वह यहाँ के देवी-देवताओं की पूजा करती थी, वहां जाकर वह वहाँ के देवी-देवताओं की पूजा करने लगी; यहाँ की ज़िम्मेदारी यहाँ छोड़कर उसने वहाँ कीज़िम्मेदारी ले ली। इस दृष्टि से 'सयुक्त-परिवार' में लड़की उम्र भर लडकी नही मानी जाती, भरण-

पोषण की दृष्टि से लडकी के साथ तभी तक लड़की का-सा व्यवहार होता है जब तक वह किसी की पत्नी नहीं बन जाती। पत्नी बनते ही उसके भरण-पोषण का किसी प्रकार का उत्तरदायित्व संयुक्त-परिवार पर नहीं रहता।

२. संयुक्त-परिवार की परिभाषा

संयुक्त-परिवार के स्वरूप के सम्बन्ध में हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे उसकी परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। संयुक्त-परिवार वह कहलाता है जिसमें परिवार के सब सदस्यों की सम्पत्ति तथा आय सम्मिलित हो, वे एक-साथ रहे, उन सबकी एक जगह रसोई बनती हो, उनका आर्थिक तथा सामाजिक जीवन एक-सूत्र में बँधा हो। आर्थिक तथा सामाजिक-जीवन एक-सूत्र में बँधा हो—इसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि जो-कोई कमाये वह उसकी अपनी निजी कमाई न समझी जाकर सबकी साझी कमाई समझी जाय, अगर किसी एक भाई की लड़की या उसके लड़के की शादी हो तो किसी भाई के निजी लडके-लडकी की शादी न समझी जाकर वह उस परिवार के लडके-लड़की की शादी समझी जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि संयुक्त-परिवार के सदस्यों के कुछ कर्त्तव्य तथा कुछ अधिकार भी होते हैं। संयुक्त-परिवार के बड़े सदस्यों का कर्तव्य है कि छोटो की ब्याह-शादी अपने लडको की तरह करे, और छोटो का अधिकार है कि वे अपनी शिक्षा-दीक्षा, ब्याह-शादी पर अपने माता-पिता से ही नही, परन्तु परिवार के बड़े से हर प्रकार की सहायता की आशा करें। इस दृष्टि से संयुक्त-परिवार की परिभाषा कुछ विस्तृत हो जाती है। हमने कहा था कि सयुक्त-परिवार वह है जिसमे परिवार के सब सदस्य एक-साथ रहें, उन सबकी एक जगह रसोई बनती हो। अगर वे एक-साथ न भी रहे, एक-साथ न भी खायें-पीयें, कोई गाँव मे और कोई बम्बई-कलकत्ता मे रहता हो, परन्तु अगर बाधित

तौर पर उन्हें उन कर्तव्यों तथा अधिकारों को निबाहना पड़ता हो जो एक-साथ रहते हुए उन्हें निबाहने होते हैं, तब भी वे संयुक्त-परिवार के ही अंग समझे जायेंगे। 'संयुक्त-परिवार' की परिभाषा करते हुए हमें समझ लेना चाहिये कि यह एक कानूनी-शब्द है, और सिर्फ़ इतना कह देने से कि मैं संयुक्त-परिवार का सदस्य नहीं रहना चाहता कोई व्यक्ति संयुक्त-परिवार की अपनी कानूनी ज़िम्मेदारियों से मुक्त नहीं हो सकता। 'संयुक्त-परिवार' का आधार धन-सम्पत्ति-ज़मीन-आमदनी है, और क्योंकि दीवानी के सब मुकदमे धन-संपत्ति सम्बन्धी होते हैं इसलिये दीवानी की अदालतों में 'संयुक्त-परिवार' से सम्बन्ध रखने वाले अनेक मुकदमे लड़े जाते हैं।

३. संयुक्त-परिवार की मुख्य-मुख्य बातें

परिवार दो तरह का होता है—'संयुक्त' तथा 'वैयक्तिक'। 'संयुक्त' में पिता-माता-पुत्र-चाचा-ताऊ सब एक-साथ रहते, एक-साथ खाते-पीते हैं। 'वैयक्तिक' में शादी होने पर पुरुष तथा स्त्री—इनका 'वैयक्तिक' या 'एकाकी' परिवार बन जाता है। 'वैयक्तिक' परिवार में दो ही व्यक्ति होते हैं, और उन्हीं दो का सिलसिला आगे चलता है, इसलिए उसमें प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की कोई समस्या नहीं उठती, 'संयुक्त-परिवार' में क्योंकि अनेक व्यक्ति होते हैं, इसलिए उनकी सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ प्रायः उठा करती हैं। अदालतों में दीवानी के मुकदमे ज़्यादातर 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि परिवार की मुख्य समस्याओं का सम्बन्ध 'संयुक्त-परिवार' से है इसलिये इसकी मुख्य-मुख्य बातों को हम यहाँ लिख रहे हैं।

(क) संयुक्त-निवास तथा संयुक्त-भोजन—संयुक्त-परिवार की सबसे मुख्य बात है परिवार के सब सदस्यों का एक ही मकान में रहना और उन सबका एक ही जगह भोजन बनना। अगर किसी परिवार के

सदस्य एक ही मकान मे रहते हैं, परन्तु उनका चौका-चूल्हा अलग-अलग है, तो वे कह सकते हैं कि वे संयुक्त-परिवार के अंग नहीं हैं।

(ख) **सम्मिलित-आय तथा सम्पत्ति**—आजकल जैसे ज्वॉइन्ट-स्टाक कम्पनी होती है जिसमे कई हिस्सेदार होते हैं, सब उसकी आय में साँझीदार होते हैं, कम्पनी भी सबकी सम्पत्ति समझी जाती है, इसी-प्रकार 'सयुक्त-परिवार' में आय अलग-अलग व्यक्ति की नहीं समझी जाती, सबकी साँझी समझी जाती है, परिवार की सम्पत्ति भी किसी एक की न होकर सबकी साँझी मानी जाती है।

(ग) **संयुक्त-परिवार के सदस्य**—सयुक्त-परिवार मे तीन पीढ़ियाँ आ जाती हैं। पिता,पुत्र तथा पौत्र, पिता के छोटे तथा बड़े भाई, उनके पुत्र तथा पौत्र—ये सब सयुक्त-परिवार के अग हैं। इन पीढियों से पहले के व्यक्ति कम जीवित पाये जाते हैं, परन्तु अगर कोई जीवित हो, तो वे भी संयुक्त-परिवार के ही अग समझने चाहियें।

(घ) **संयुक्त-परिवार का मुखिया या कर्ता**—परिवार में जो व्यक्ति आयु में सबसे बडा होता है वह सयुक्त-परिवार का मुखिया कहलाता है। कानूनी परिभाषा मे उसे 'कर्ता' कहते हैं। 'कर्ता' का अर्थ है—मैनेजर। वह परिवार की सम्पत्ति का स्वामी न होकर उसका प्रबन्धक माना जाता है। परिवार के सब व्यक्तियो की आमदनी 'कर्ता' के पास ही जमा होती है और वही आवश्यकतानुसार परिवार के खर्च चलाता है। किसी बच्चे की शिक्षा है, किसी बच्चे की शादी है—परिवार के सब बच्चो की शिक्षा, विवाह आदि का प्रबन्ध परिवार के कोष में से 'कर्ता' ही करता रहता है। परिवार की समस्याओं के सम्बन्ध में 'कर्ता' का निश्चय ही अन्तिम समझा जाता है।

(ङ) **संयुक्त-परिवार में बहू की स्थिति**—'वैयक्तिक-परिवार' में तो बहू को सिर्फ़ अपने पति से वास्ता पडता है, परंतु 'संयुक्त-परिवार' मे कहीं सास-ससुर हैं, कही तैय्या ससुर-सास, कही चचिया ससुर-सास, कही जेठ, कही देवर। एक ही घर में इन सबकी

मौजूदगी में बहू को सब संबंधों को निबाहना पड़ता है और वह एक विकट-स्थिति में बनी रहती है। उसका ज्यादातर समय इन्हीं लोगों की सेवा में बीतता है, अपने पति के साथ भी वह सब लोगों के सामने बात नही कर सकती, केवल रात को ही उसे अपने पति के दर्शन होते हैं। बहू के लिये संयुक्त-परिवार में जाना एक विकट-स्थिति में जाना है।

(च) संयुक्त-परिवार में स्त्री-धन—संयुक्त-परिवार में सब आय तथा सब सम्पत्ति सम्मिलित परिवार की होती है, परन्तु विवाह के समय तथा विवाह के बाद समय-समय पर स्त्री को जो भेंट के तौर पर उसके माँ-बाप या रिश्तेदार देते या देते रहते हैं वह स्त्री-धन कहलाता है और वह सम्पूर्ण परिवार का न होकर उसका निजी धन समझा जाता है। इस स्त्री-धन पर इन्कम-टैक्स भी नहीं लगता इसलिये कई धनी परिवार आय-कर से बचने के लिये अपनी निजी सम्पत्ति को भी स्त्री-धन के तौर पर दर्शा देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि स्त्री से तो वे जब चाहेंगे धन ले सकेंगे।

(छ) संयुक्त परिवार के संबंध में उत्तराधिकार का १९५६ का अधिनियम—'वैयक्तिक-परिवार' में तो पति की सम्पत्ति अपनी उपार्जित की हुई सम्पत्ति होती है, इसलिये वह अपनी वसीयत के अनुसार जिसे देना चाहे दे सकता है, परन्तु 'संयुक्त-परिवार' की सम्पत्ति को वसीयत के अनुसार किसी को नहीं दिया जा सकता, वह तो उन्हीं वारिसों को मिलती है जो उसके उत्तराधिकारी हैं। इस दृष्टि से 'संयुक्त-परिवार' के लिये उत्तराधिकार के नियम विशेष महत्व रखते हैं। १९५६ से पहले उत्तराधिकार के रूप में पत्नी का खानदान की जायदाद में कोई हिस्सा नहीं था, लड़की का भी नहीं था, विधवा को सन्तान न होने पर अपना गुज़ारा चला सकने का अधिकार था, बेचने का अधिकार नहीं था, उसके मरने के बाद अगर दूर-से-

दूर का भी उसका कोई रिश्तेदार निकल पड़ता था तो सम्पत्ति उसको चली जाती थी। अब १९५६ के 'हिंदू-उत्तराधिकार-अधिनियम' (Hindu Succession Act, 1956) के अनुसार स्त्री को सम्पत्ति सम्बन्धी कई अधिकार मिल गये हैं। उदाहरणार्थ, लड़की को पिता की वसीयत न की गई अपनी कमाई सम्पत्ति में भी लड़के के बराबर का हिस्सा दे दिया गया है, और खानदानी सम्पत्ति में भी कुछ हिस्सा दिया गया है। विधवा को पति की खानदानी सम्पत्ति में हिस्सा दिया गया है जिस पर उसका पूर्ण-अधिकार होगा, वह चाहे तो उसे बेच भी सकेगी। 'हिन्दू-उत्तराधिकार-अधिनियम' के इन सब पहलुओं पर हमने अगले एक अध्याय मे जिसका शीर्षक है—'सामाजिक-विधान तथा उसका विवाह पर प्रभाव'—विस्तार से प्रकाश डाला है।

४. संयुक्त-परिवार तथा सम्पत्ति—
दायभाग तथा मिताक्षरा

[संयुक्त-परिवार का आधारभूत-तत्व]

हमने देखा कि सयुक्त-परिवार के जितने सदस्य होते हैं सब एक ही मकान में रहते हैं, एक जगह उनका भोजन बनता है, सबकी कमाई एक ही जगह जमा हो जाती है, एक ही देवी-देवताओं की वे आराधना करते हैं। यद्यपि वर्तमान-युग की आर्थिक-परिस्थितियों के कारण संयुक्त-परिवार के सदस्य भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर आजीविकोपार्जन के लिए जाते हैं, तो भी जहाँ कहीं वे होते हैं वहाँ से अपनी आय का अधिकांश वे परिवार के उस सदस्य के पास भेजते रहते हैं जो उनके बाल-बच्चों की देख-भाल करता रहता है। समय-समय पर वे बम्बई, कलकत्ता, जहाँ-कहीं भी हों वहाँ से अपने घर आते रहते हैं, खासकर शादी-ब्याह के अवसर पर, होली-दीवाली-दशहरे के अवसर पर, और उस समय वे अपनी पूँजी परिवार के प्रधान के सामने रख देते हैं। अगर किसी कारणवश संयुक्त-परिवार के सदस्य एक-दूसरे से जुदा

होना चाहें, तो अपनी सम्पत्ति बराबर-बराबर बाँटकर अलग हो सकते हैं। संयुक्त-परिवार की सम्पत्ति के बँटवारे के सम्बन्ध में अपने देश में मुख्य तौर पर दो प्रकार के कानून प्रचलित हैं। एक कानून तो बंगाल तथा असम के कुछ हिस्सों में प्रचलित है। इसे 'दायभाग' कहते हैं। दायभाग-विधान के अनुसार पिता अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का अखण्ड स्वामी माना गया है, वही इसका प्रबन्धक भी है, और चाहे तो अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकता है। दूसरा कानून बंगाल, असम तथा दक्षिण-भारत के कुछ हिस्सों को छोड़कर भारत में सर्वत्र माना जाता है। इसे 'मिताक्षरा' कहते हैं। इसके अनुसार पिता के साथ उसके पुत्र भी जन्म लेते ही सम्पत्ति के मालिक माने गये हैं, पिता वंश-परम्परा-प्राप्त सम्पत्ति को बेच नहीं सकता, अगर हर-एक अलग-अलग सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है, तो 'संयुक्त-परिवार' को भंग करना आवश्यक है, कानूनी तौर पर 'संयुक्त-परिवार' में संपत्ति का बँटवारा 'संयुक्त-परिवार' को भंग किये बिना नहीं हो सकता।

हमने अभी कहा कि 'संयुक्त-परिवार' में सब सदस्य अपनी आय को एक जगह एकत्रित कर देते हैं और इसी 'संगृहीत-द्रव्य' (Common pool) से परिवार के सब सदस्यों का खर्चा चलता है, इसी से परिवार का मुखिया सब के शादी-ब्याह करता है। कई सदस्य ऐसे भी होते हैं जो कुछ कमा नहीं रहे होते। वे भी क्योंकि परिवार के सदस्य होते हैं अतः उनका भी खर्चा इसी 'संगृहीत-द्रव्य' से चलता है। परिणाम यह होता है कि कई सदस्य नकारे बने रहते हैं, उन्हें इस बात की फ़िक्र नहीं होती कि उन्हें भी कुछ करना है, क्योंकि उनके गृहस्थी के कारोबार तो सब चलते ही रहते हैं। जहाँ 'संयुक्त-परिवार' के सदस्य एक ही जगह रहते हैं, सब की साँझी जमीन होती है, सब को खेती-बाड़ी का कुछ-न-कुछ काम करना पड़ता है, वहाँ अगर कोई सदस्य अपने अतिरिक्त समय में, अतिरिक्त मेहनत से कुछ कमा-धमा लेता है, तो वह उसका निजी धन समझा जाता है। इसके अतिरिक्त पत्नी विवाह के समय जेवर,

जवाहरात, कपड़े आदि अपने पिता के घर से लाती है वह भी उसकी निजी सम्पत्ति—'स्त्री-धन'—समझी जाती है।

देवी-देवताओं की पूजा के सम्बन्ध मे 'सयुक्त-परिवार' की यह व्यवस्था है कि सब एक स्थान पर इकट्ठे होकर पूजा करते हैं और यदि सब लोग एक जगह पर नही रह रहे, आजीविका के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर चले गये हैं, तो मूर्ति को बारी-बारी सब के पास भेजा जाता है, ताकि हर-एक देवता की व्यक्तिरूप से पूजा कर सके।

'संयुक्त-परिवार' का, आयु मे जो सबसे बडा पुरुष-सदस्य होता है, वही 'सयुक्त-परिवार' की सब सम्पत्ति का 'प्रबन्धक' माना जाता है। घर के आन्तरिक-प्रबन्ध की देख-रेख की ज़िम्मेदारी उसकी स्त्री की होती है। वैसे तो अविकसित-समाज में सभ्य-समाज की अपेक्षा ईमानदारी अधिक पायी जाती है, 'सयुक्त-परिवार' का प्रधान सबके साथ समान बर्ताव करता है, परन्तु जिसके हाथ मे सारी सम्पत्ति हो उसका बेईमान हो जाना भी सम्भव है, उसका घर की साँझी सम्पत्ति को सिर्फ अपना समझ लेना कोई आश्चर्य की बात नही। कभी-कभी इस प्रमुख व्यक्ति का अन्य सदस्यो के साथ बर्ताव भी कठोर हो जाता है। इन दोनों कारणो से 'सयुक्त-परिवार' में झगडे उठ खडे हुआ करते हैं, परन्तु प्रचलित प्रथा के अनुसार इस मुखिया की आज्ञा का कोई उल्लंघन नही करता, जो वह कहता है वही दूसरे करते हैं, उसका कथन सबके लिये अनिवार्य तौर से शिरोधार्य होता है।

५. 'संयुक्त' से 'वैयक्तिक' (एकाकी) परिवार की तरफ़

इस समय मानव-समाज की जिस दिशा की तरफ प्रगति हो रही है उसमे 'सयुक्त-परिवार'-प्रथा टूटती नजर आ रही है। लोग सामूहिक-जीवन बिताने के स्थान में वैयक्तिक-जीवन बिताने की तरफ़ बढ़ रहे हैं, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि अब तक जो परिवार 'संयुक्त' थे, वे 'वियुक्त' हो रहे हैं, जो 'अविभक्त' थे, वे 'विभक्त' हो

रहे हैं, इसीलिये यह कहना असंगत न होगा कि वर्तमान-युग की दिशा 'सयुक्त-परिवार' (Joint family) से 'वैयक्तिक-परिवार' या 'एकाकी-परिवार' (Individualistic or Immediate family†) की तरफ जा रही है। 'संयुक्त-परिवार' में चचा-ताऊ, भाई-भतीजे सब साथ रहते हैं, 'वैयक्तिक-परिवार' में पति-पत्नी तथा सन्तान—इन तीन का ही साथ रह जाता है। 'वैयक्तिक-परिवार' को 'सन्तान-केन्द्रिक' (Filiocentric) भी कहते हैं क्योंकि 'वैयक्तिक-परिवार' के सब लोगों की जबान पर रहता है कि बाल-बच्चो की परवरिश करें, या सबको कमाकर खिलावें। आजकल जीवन में आर्थिक विषमता बढती जा रही है, पहले की तरह की हर बात की बहुतायत नही रही, अपने बाल-बच्चो का ही भरण-पोषण कठिन होता जा रहा है, सबका भरण-पोषण तो कौन कर सकता है—इन्ही सब कारणों से 'संयुक्त-परिवार' प्रथा टूटती जा रही है। 'संयुक्त-परिवार' के टूट-टूटकर 'वैयक्तिक-परिवार' या 'एकाकी-परिवार' बनने में अनेक कारण हैं, और अनेक हानि-लाभ हैं, परन्तु उनमे मुख्य कारण तथा मुख्य हानि-लाभ निम्न हैं—

६. संयुक्त-परिवार के टूटने के कारण, हानियाँ तथा लाभ

[संयुक्त-परिवार के टूटने के कारण]

(क) **आर्थिक-कारण**—'सयुक्त-परिवार' के टूटने का सबसे मुख्य कारण आर्थिक है। पहले जब 'संयुक्त-परिवार' का निर्माण हुआ था तब परिवार वस्तु का 'उत्पादन' (Production) भी करता था, 'उपभोग'

---

† अंग्रेजी मे Joint family का उल्टा Immediate family कहलाता है।

(Consumption) भी करता था। अपने उपभोग के लिये जिस वस्तु की आवश्यकता थी वह परिवार में ही उत्पन्न कर ली जाती थी। कपड़े की जरूरत है, तो घर में करघे लगे हुये थे, जितना कपडा चाहिए बना लिया। खाने की ज़रूरत है, तो अपनी खेती में से जितना अनाज चाहिए मिल गया। अपनी जरूरत से जितना ज्यादा होता था वह दूसरो को देकर उनके पास जो चीज होती थी वह बदले में ले ली जाती थी। आर्थिक-व्यवस्था इतनी जटिल नहीं हुई थी जितनी आज हो गई है। घर ही 'गृहोद्योग' का केन्द्र था, और उसके लिये 'सयुक्त-परिवार-प्रथा' अत्यन्त उपयुक्त थी। यह मानो एक बनी-बनाई कम्पनी थी, एक कार्पोरेशन था। परन्तु युरोप में १८वी सदी में अनेक आविष्कार हुए। १६वीं तथा २०वीं सदी में ये आविष्कार और बढे जिनका परिणाम कल-कारखाने लगना हुआ। पहले करघे पर जितना काता-बुना जाता था, अब मशीनों के जरिये आठ-दस गुना काता-बुना जाने लगा। इसे 'औद्यौगिक-क्रांति' (Industrial revolution) कहते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारो के साथ-साथ औद्योगिक-क्राति का रूप उग्र होता चला गया। क्योंकि घर की अपेक्षा घर के बाहर कल-कारखाने में उद्योगो से अधिक काम हो सकता था, अतः जितने उद्योग घर मे केन्द्रित थे, वे १६वीं तथा २०वीं सदी मे औद्योगिक-क्रान्ति के कारण घर से बाहर जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि घर केवल 'उपभोग का केन्द्र' (Consuming centre) रह गया, 'उत्पादन का केन्द्र' (Producing centre) न रहा। 'उत्पादन के केन्द्र' के रूप में 'संयुक्त-परिवार' का विशेष महत्त्व था क्योंकि सब लोग मिलकर काम करते थे। जब परिवार 'उत्पादन का केन्द्र' ही न रहा, तब उसका टूट जाना स्वाभाविक था। 'औद्योगिक-क्राति' का यह परिणाम हुआ कि अनेक व्यक्तियों का काम मशीन के जरिये एक व्यक्ति करने लगा। इससे बेकारी और बेरोजगारी का बढना स्वाभाविक था। तब लोग क्या करते ? कारखाने हर जगह तो थे नही। बडे-बड़े शहरों में

कारखाने लगे थे। लोग पेट की खातिर शहरों में जाने लगे। शहरों में रोटी-पानी का क्या प्रबन्ध हो ? वे अपने बाल-बच्चों को भी बुला लेते थे। जब घर में परिवार के सदस्य न रहे, तो 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' का टूटना स्वाभाविक हो गया।

(२) **घरेलू-झगड़े**—'संयुक्त-परिवार'-प्रथा टूटने के जिन आर्थिक-कारणों का ऊपर निर्देश किया गया है उनके अतिरिक्त इस प्रथा के टूटने का दूसरा कारण घरेलू-झगड़े हैं। 'सयुक्त-परिवार' में ३०-४० सदस्य तो होते ही हैं। बगाल के एक 'संयुक्त-परिवार' में ५०० के लग-भग सदस्य गिने गये थे। इस विषय का विस्तृत अध्ययन करने के लिए हमे कुछ परिवारो को चुनकर उनकी सब अवस्थाओं की क्रियात्मक जानकारी हासिल करनी चाहिए। यह गवेषणा का एक दिलचस्प विषय है। इतने व्यक्तियो के एक-साथ रहने से उनके आपस के सामाजिक-व्यवहार मे समय-समय पर मनोमालिन्य हो जाना कोई अचम्भे की बात नहीं है। ऐसे परिवारो में प्रायः स्त्रियों से झगड़े उठा करते हैं। जो लोग कमाऊ होते हैं उनकी स्त्रियाँ दूसरो को ताना दिया करती हैं, उन्हें अपने पति के कमाऊ होने पर गर्व होता है, वे नही चाहती कि उनका पति कमाता रहे और दूसरे बैठकर खाते रहें। कभी-कभी 'सयुक्त-परिवार' का मुखिया रुपये-पैसे की गड़बड़ कर जाता है, पैसे अपने काम मे उड़ा देता है। ये सब कारण जब इकट्ठे हो जाते हैं, तब घरेलू-झगडे उग्र रूप धारण कर लेते हैं, और 'संयुक्त-परिवार' टूटकर 'वैयक्तिक-परिवार' बन जाते हैं।

(३) **नवीन विचार**—इस बीसवीं सदी में मानव-समाज जो प्रगति कर रहा है उसके प्रभाव में आकर भी लोग 'संयुक्त-परिवार' में बंधे रहना नहीं पसन्द करते। जैसे सयुक्त-परिवार प्राचीन-काल से चला आ रहा है, वैसे इसका विरोध भी प्राचीन-काल से ही होता आया है। शुक्र-नीति मे लिखा है—

कुछ रस्मो-रिवाज होते हैं। परिवारों के अलग-अलग हो जाने से लोग सब-कुछ भूल जाते हैं, नई सन्तति तो पुरानी किसी बात को याद ही नही रखती, अपने निकट के सम्बन्धियो तक को नई औलाद नहीं पहचानती। साथ-साथ रहने से एक-दूसरे को शर्म रहती है, लिहाज रहता है, शर्म-लिहाज किसी को न रहे तो मनुष्य सच्चरित्रता से भी भ्रष्ट हो जाता है। बम्बई, कलकत्ता आदि मे कई ऐसे परिवार हैं जो अपने रिश्तेदारो से दूर रहते हैं, उन्हें उनका कोई रिश्तेदार नहीं जानता, वे अपने किसी रिश्तेदार को नही जानते। शराब पीते, मस्त-मौला बन अपना दिन काटते हैं। उन्हे सन्मार्ग दिखाने वाला कोई नही। इसका यह अभिप्राय नही कि 'सयुक्त-परिवार' से जो अलग होगा उसका यही हाल होगा, इसका इतना ही अभिप्राय है कि परिवार के अन्य सदस्यो की देख-रेख का बन्धन मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से रोकता है।

(ख) **नियन्त्रण**—'सयुक्त-परिवार'-प्रथा मनुष्य को नियम में रखती है, बन्धन मे रखती है। मनुष्य बन्धन नहीं चाहता—यह ठीक है, परन्तु कभी-कभी बन्धन मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है। 'वैयक्तिक-परिवार' मे मनुष्य को अपने को बन्धन मे रखने के लिये, अपने को अपनी ही जिम्मेदारी पर छोड़ना पडता है, उस पर से सामाजिक-बन्धन उठ जाता है। अपनी जिम्मेदारी अपने पर कितने लोग ले सकते हैं? सर्व-साधारण को तो अपने नियन्त्रण के लिए दूसरे पर ही छोड़ना पड़ता है।

(ग) **बेकारी में सहायक**—वर्तमान-युग की आर्थिक अवस्थाओं में कौन कब बेकार हो जायगा, इसे कौन कह सकता है? 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा बेकारी मे अपने सदस्यो की सहायक सिद्ध होती है, परिवार के दूसरे सदस्य अपने सगे-सम्बन्धी के काम आते हैं। अमीर लोगों की बात तो आज दूसरी है, वे एक दिन से ज्यादा किसी को अपने घर नही रख

सकते, परन्तु गरीब लोग जिनमें 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा के प्रति अभी तक आदर है, अपने रिश्तेदारों को महीनों तक अपने पास रखते हैं, जब तक उन्हें नौकरी नहीं मिल जाती तब तक यथाशक्ति उनकी सहायता करते हैं।

(घ) **स्त्रियों की सहायक**—स्त्रियों की तो इस प्रथा से विशेष सहायता होती है। ख़ास कर अपने समाज में जो विधवायें शादी-ब्याह नहीं करतीं उनका त्राण 'वैयक्तिक-परिवार' में नही हो सकता, 'संयुक्त-परिवार' में उनका भरण-पोषण भी औरो के साथ-साथ चलता रहता है।

(ङ) **बूढ़ों की सहायक**—मनुष्य बूढा होकर ख़ुद तो कमा नही सकता, आजकल के 'वैयक्तिक-परिवार' के नौजवान अपने बूढे माँ-बाप की पर्वाह नहीं करते, वे कहते हैं—अपने बाल-बच्चो को खिलायें या बूढे माँ-बाप को खिलायें। जिन माता-पिता ने उनको पाल-पोसकर बडा किया, उनकी तरफ उनका ध्यान नही जाता। ऐसी अवस्था में या तो राष्ट्र अपने ऊपर बूढ़ों की परवरिश की ज़िम्मेदारी ले, या 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा द्वारा उनका भरण-पोषण हो, तीसरा रास्ता उनका रो-रोकर अपना बुढ़ापा काटने के सिवाय क्या रह जाता है ?

(च) **निःस्वार्थपरता**—'वैयक्तिक-परिवार'-प्रथा व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है, 'सयुक्त-परिवार'-प्रथा उसे निःस्वार्थी, अपने को छोड कर दूसरों को भी अपना समझना सिखलाती है।

ऊपर 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा तथा 'वैयक्तिक-परिवार'-प्रथा के संबंध में जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि दोनो के अपने-अपने लाभ और अपनी-अपनी हानियाँ हैं। इस समय समाज की दिशा 'संयुक्त' से 'वैयक्तिक' परिवार की तरफ़ जा रही है, परन्तु समाज के कर्णधारों को दोनों का इस प्रकार का समन्वय करना चाहिए जिससे दोनों के गुण रह जाँय, अवगुण नष्ट हो जाँय।

प्रश्न

१—संयुक्त-परिवार किसे कहते हैं, इसकी मुख्य-मुख्य बातें क्या हैं ?

२—संयुक्त-परिवार की उत्पत्ति के कारण क्या हैं ?

३—संयुक्त-परिवार के आधारभूत तत्व क्या हैं ?

४—संयुक्त-परिवार-प्रथा के हानि-लाभ क्या हैं ?

४

विवाहों के प्रकार

(FORMS OF MARRIAGE)

१. विवाह के प्रकार

विवाह के मुख्य तौर पर दो प्रकार हैं—'एक-विवाह' (Monogamy) तथा 'बहु-विवाह' (Polygamy)। 'एक-विवाह' का अर्थ है—एक पुरुष एक स्त्री से शादी करे, और एक स्त्री एक पुरुष से शादी करे। 'बहु-विवाह' के तीन भेद हैं—अनेक पुरुषों की एक स्त्री से शादी को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते है; एक पुरुष की अनेक स्त्रियों से शादी को 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहते हैं; अनेक पुरुषों के अनेक स्त्रियों से विवाह को 'यूथ-विवाह' (Group-marriage) कहते हैं। किसी प्रकार के विवाह के बिना स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को 'संकरता' (Promiscuity) कहते हैं। विवाह के प्रकारों को समझने के लिए इन सबका जानना आवश्यक है, इसलिए हम इन सबकी यहाँ थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे और क्योंकि विवाह के इन प्रकारों में अनेक जंगली जातियों में पाये जाते हैं इसलिये स्थान-स्थान पर हम उनकी भी चर्चा करेंगे।

(क) एक-विवाह (Monogamy)—एक-विवाह की प्रथा आजकल के सभ्य-समाज में पायी जाती है, और आदि-काल के अशिक्षित समाज में पायी जाती थी। आदिकालीन-समाज की आर्थिक-व्यवस्था फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था थी। इस आर्थिक-व्यवस्था की जो अशिक्षित जन-जातियाँ इस समय जीवित पाई जाती हैं उनमें एक-विवाह की प्रथा पायी जाती है, उनके परिवार के सदस्यो मे एक पुरुष तथा एक स्त्री—यही नियम है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि-समाज को यही पद्धति बच्चे की परवरिश के लिए सर्वोत्तम प्रतीत हुई होगी और इसीलिए उस समाज ने इसी पद्धति को अपनाया होगा। आदि-काल की अवस्थाओ में एक स्त्री तथा एक पुरुष के विवाह से ही मनुष्य जीवित रह सका, दूसरे किसी प्रकार का विवाह होता—'बहु-भार्यक' या 'बहु-भर्तृक' तो मनुष्य की सन्तान माता तथा पिता के ध्यान बँट जाने से जीवित न रह सकती। इसके अतिरिक्त अगर हम जीवित जगली जातियो का अध्ययन करें, तो उनमे से भी अधिकाश 'एक-विवाही' ही पाई जाती हैं। ठीक भी है, इन निम्न-स्तर की अशिक्षित जन-जातियो में पुरुष का युवावस्था प्राप्त करते ही विवाह कर लेना लाजमी प्रतीत होता है क्योंकि युवा बन जाने के बाद इनको खिलाने-पिलाने की जिम्मेदारी दूसरा कोई नही ले सकता। युवा होने के बाद अगर ये शादी करके अपना अलग खाने-कमाने का सिलसिला न बना लें, तो हर समय घर में वैमनस्य बना रहे। आदि-कालीन समाज में क्योंकि स्त्री-पुरुषो की संख्या मे विषमता होने का कोई कारण नही प्रतीत होता, और उन्हे घर में वैमनस्य न पैदा हो जाय इस कारण घर से अलग होना जरूरी था, और साथ ही क्योंकि उस समय स्त्री-पुरुषों की संख्या भी बराबर-बराबर थी, इसलिये कई लोगो का कहना है कि आदि-कालीन समाज बहु-विवाही न होकर एक-विवाही ही था। आजकल का सभ्य-समाज तो एक-विवाही है ही।

(ख) बहु-भर्तृता (Polyandry)—बहु-विवाह की प्रथा संसार के बहुत भागो में प्रचलित है। बहु-विवाह का रूप एक स्त्री के अनेक पति होना है, इसी को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं। 'बहु-भर्तृता' के दो रूप हैं—(१) 'भ्रातृक बहु-भर्तृता' (Adelphic या Fraternal polyandry) वह है जिसमें कई भाई मिलकर एक स्त्री से शादी कर लेते हैं, (२) 'अभ्रातृक-बहु-भर्तृता' (Non-fraternal polyandry) वह है जिसमें एक स्त्री से जो लोग शादी करते हैं, वे भाई-भाई नहीं होते। पहले प्रकार की 'बहु-भर्तृता' मे स्त्री तथा सब पति इकट्ठे, एक ही स्थान पर रहते हैं, यह सयुक्त-परिवार में पायी जाती है, दूसरे प्रकार की 'बहु-भर्तृता' में स्त्री भिन्न-भिन्न समयो में भिन्न-भिन्न पतियो के घरो मे जाकर रहती है, या पति भिन्न-भिन्न स्थानो में रहते हुए भिन्न-भिन्न समयो मे पत्नी के यहाँ आकर रहते हैं। जब तक स्त्री किसी एक पति के साथ रह रही होती है तब तक अन्य पतियो का उस पर अधिकार नही होता। यह प्रथा कम देखने में आती है। मद्रास के नायर लोगो में यह प्रथा है। पहले प्रकार की 'बहु-भर्तृता' नीलगिरि के टोडा, देहरादून जिले के जौनसार-बावर के इलाके मे पायी जाती है। काश्मीर से लेकर असम तक जो मगोल लोग रहते हैं उन सबमे यही प्रथा है।

(ग) बहु-भार्यता (Polygyny)—एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होना अनेक समाजो मे पाया जाता है। आदि-कालीन फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक व्यवस्था में स्त्री तथा पुरुष की स्थिति एक-समान थी, उनमें कोई मौलिक भेद नही था, इसलिये कोई स्त्री अपनी साँझीदार दूसरी स्त्री को अपने घर में कैसे बर्दाश्त कर सकती थी? इसके अलावा शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष की संख्या में भी कोई आधारभूत विषमता नहीं थी, इसलिए आदि-कालीन विवाह-संबंधी-व्यवस्था तो एक-विवाह की ही थी। यह संभव है कि किसी-किसी परिवार मे जहाँ

काम अधिक था पत्नी की इच्छा से दूसरी स्त्री भी ले ली जाती थी। जब आर्थिक-व्यवस्था विकसित अवस्था का रूप धारण कर गई, तब इस समाज का जो मुखिया होता था वह अपनी शान के लिये चार-पाँच स्त्रियाँ रख लेता था, उसके साथ के लोग भी एक की जगह दो स्त्रियाँ रख लेते थे। अपने देश में हिन्दुओं में अनेक स्त्रियाँ रखने की प्रथा रही है जो अब १९५५ से बन्द की गई है। मुसलमान तो अब भी अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं।

(घ) **यूथ-विवाह** (Group marriage)—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि पहले कभी यूथ-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनो के साथ विवाह हो जाता था। दूसरे पक्ष के विद्वान् इस बात को नहीं मानते। आदि-काल की जन-जातियों मे कई जातियाँ ऐसी पायी जाती हैं जिनमें चाचा-ताया, चाची-ताई आदि के लिये पिता-माता—ये शब्द ही पाते जाते हैं। इनके आधार पर यह कल्पना की जाती है कि इन जन-जातियों मे कभी यूथ-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, परन्तु अगर ऐसा होता, तो आदि-कालीन किसी जीवित जंगली-जाति में भी यह प्रथा पायी जाती। इसका न पाया जाना सिद्ध करता है कि यूथ-विवाह की कल्पना, कल्पना ही है, इस कल्पना का आधार यथार्थ नहीं है।

(ङ) **संकर-विवाह** (Promiscuity)—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि आदि-कालीन समाज में परिवार का विचार नही था, विवाह का विचार भी नही था, संकरता थी। यह बात भी कल्पना के आधार पर ही कही जाती है। असल में जीवित जगली-जातियों में ऐसी कोई जन-जाति दिखाई नहीं पडती जिसमें विवाह की संस्था न हो और संकरता हो।

२. विवाह में विधि तथा निषेध अथवा अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह

(Preference and Prohibition or Endogamy and Exogamy)

विवाह के सम्बन्ध में सब जगह दो प्रकार के नियम बने हुए हैं। एक नियम तो वे हैं, जो यह बतलाते हैं कि कहाँ शादी की जाय, दूसरे नियम वे हैं, जो यह बतलाते हैं कि कहाँ शादी न की जाय। कहाँ शादी की जाय, यह बतलाने वाले 'विधि-नियम' (Preference) कहलाते हैं, कहाँ न की जाय, यह बतलाने वाले नियम 'निषेध' (Prohibition) कहलाते हैं। पहले हम 'निषेध' की चर्चा करेंगे, फिर 'विधि' की।

(क) **निषेध, बहिर्विवाह** (Prohibition, Exogamy)—कहाँ-कहाँ विवाह न किया जाय, इस प्रकार के निषेधक नियमों को बहिर्विवाह (Exogamy) के नियम कहा जाता है। संसार के सब समाजों में—आदि-समाज और उन्नत-समाज मे—पिता-पुत्री का, माता-पुत्र का, और निकट के रुधिर के सम्बन्धियों का विवाह-संबंध वर्जित है। कुछ-एक समाज ऐसे हैं जो निकट के सम्बन्धियों को विवाह की आज्ञा देते हैं, परन्तु अधिकांश समाजों में यह सम्बन्ध वर्जित ही नहीं, दंडनीय भी है। भाई-बहिन का विवाह उचित नही, इसे 'अनाचार' (Incest) कहा जाता है। 'समान-रुधिरवालो का विवाह' (Consanguineous marriage) भी संसार के अधिक भागो में अनुचित समझा जाता है। समान-रुधिर के जो बहुत नजदीकी रिश्तेदार होते हैं, उनका विवाह सम्बन्ध ही वर्जित नहीं है अपितु एक गोत्र के लोग भी विवाह नहीं कर सकते क्योंकि यह समझा जाता है कि एक गोत्र वालों का रुधिर संबंध होता है।

(ख) **विधि, अन्तर्विवाह** (Preference, Endogamy)—हमने देखा कि कहाँ विवाह नही कर सकते। भाई-बहन में, अपने रुधिर वालो में

शादी-ब्याह नहीं कर सकते, परन्तु अपनी जात-बिरादरी के बाहर भी नही जा सकते। आधारभूत सिद्धान्त यह माना जाता है कि जहाँ 'रुधिर' की समानता हो, वहाँ विवाह उचित नही, जहाँ 'जाति' की समानता हो वहाँ विवाह उचित है। हिन्दुओं में यह समझा जाता है कि गोत्र तथा सपिड में रुधिर की समानता होती है, अतः वहाँ विवाह का निषेध है; अपनी जाति मे रुधिर की समानता नही होती, अतः वहाँ विवाह का विधान है। हिन्दू अपने गोत्र में शादी नही कर सकते, परन्तु अपनी जाति से बाहर भी शादी नही कर सकते। ऐसा क्यो है ? ऐसा इसलिये है क्योंकि अपनी जाति से बाहर जाने में मनुष्य एक ऐसे समुदाय मे जा पडता है जिससे अपने समुदाय के टूटने का तथा समुदाय मे बाहर के रुधिर आजाने का भय है, इसलिये अपनी जाति के बाहर जाने का भी हिन्दुओ मे ही नहीं, सब प्राचीन जातियो मे निषेध है। अपनी जाति के भीतर विवाह करने को ही 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं। यह 'विधि' है, 'नियम' है कि अपनी जाति में ही विवाह किया जाय।

३. विवाह में अनुलोम तथा प्रतिलोम
(Hypergamy and Hypogamy)

विवाह में विधि तथा निषेध पर विचार करते हुए हिन्दुओं के अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह पर विचार करना जरूरी जान पडता है, क्योंकि अनुलोम-विवाह करने की हिन्दुओं में छूट है, प्रतिलोम-विवाह करने की छूट नहीं है। 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' क्या है ? हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के अनुसार लडकी की विवाह से पहले जाति पिता की जाति होती है, विवाह के बाद जाति पति की जाति हो जाती है। एक तरह से स्त्री की तो कोई जाति ही नही होती, पुरुष की जाति होती है, स्त्री जिस जाति के पुरुष के साथ विवाह करे स्त्री की वही जाति मानी जाती है। विवाह-संबंध मे ब्राह्मण का ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र की

कन्या से विवाह हो सकता है, इनमें ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-कन्या का विवाह सवर्ण-विवाह एवं ब्राह्मण का क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की कन्या से विवाह अनुलोम-विवाह कहलाता है, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण-कन्या का विवाह प्रतिलोम-विवाह कहलाता है। अगर पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करता है, तो यह अनुलोम-विवाह है, इसकी शास्त्र आज्ञा देता है, अगर पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करता है, तो यह प्रतिलोम-विवाह है, इसकी शास्त्र आज्ञा नहीं देता। ब्राह्मण शूद्रा से शादी कर सकता है परन्तु शूद्र-पुरुष ब्राह्मणी से शादी नहीं कर सकता। इस प्रथा का सामाजिक परिणाम क्या हुआ? इसका सामाजिक-परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-लडके का विवाह का क्षेत्र ब्राह्मण-लडकी के विवाह के क्षेत्र से बहुत विस्तृत हो गया, और ब्राह्मण-लडकी का विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया, ब्राह्मण-लड़का जहाँ चाहता शादी कर सकता था, ब्राह्मण-लड़की सिर्फ अपने वर्ण मे ही शादी कर सकती थी। ब्राह्मण-लड़कियो के लिए विवाह एक समस्या हो गयी। या तो ब्राह्मण-लड़का पाने के लिए लड़की के माता-पिता दहेज दें, या जन्म-भर लडकी कुंवारी बैठी रहे। 'प्रतिलोम-विवाह' को नाजायज करने का परिणाम ब्राह्मणो में 'दहेज' (Bridegroom price) प्रथा का चलन हो गया, एक-एक लडका कई लडकियों से विवाह करने लगा, उनमें 'बहु-भार्यता' (Polygyny) चल पडी, लड़की का होना ब्राह्मणो में एक मुसीबत का सामना करना हो गया। इसके प्रतिकूल जहाँ ब्राह्मण-लड़का 'अनुलोम-प्रथा' के अनुसार हर जात में शादी कर सकता था, और ब्राह्मण-लडकी 'प्रतिलोम-प्रथा' के अनुसार सिर्फ अपनी जाति में शादी कर सकती थी, वहाँ शूद्र-लड़का तो सिर्फ अपनी जाति में शादी कर सकता था, परन्तु शूद्र-लड़की हर जाति में शादी कर सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि शूद्र-लड़के का विवाह का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया, शूद्र-लडकी का क्षेत्र बहुत बढ़ गया। नतीजा यह हुआ कि शूद्र-लड़के को लड़की मिलना ही कठिन हो गया। ब्राह्मणों

में 'पति-मूल्य' (Bridegroom price) तथा शूद्रों में 'पत्नी-मूल्य' (Bride price) की प्रथा चल पडी। नीची जातियों में लडकियाँ ही नही मिलती, लडकियो के लिये पैसा देना पडता है, वे बिकती हैं। अनुलोम तथा प्रतिलोम प्रथा का आज हिन्दू-जाति पर यह प्रभाव पड़ रहा है कि बड़ी जातो में लडके बिकते हैं, छोटी जातो में लडकियाँ बिकती हैं, बड़ी जातों मे एक पुरुष अनेक स्त्रियाँ रखता रहा है, छोटी जातियो में अनेक पुरुष एक स्त्री रखते हैं। बड़ी जातियों में पुरुष अविवाहित नहीं रहता, छोटी जातियो में कई बार पुरुष को अविवाहित रह जाना पडता है, बडी जातो में लडकी आसानी से मिल जाती है, छोटी जातों में लडकी को लूटकर, भगा कर लाना पडता हैं। हिन्दू-समाज में भिन्न-भिन्न जातियो में लडकी की स्थिति की विषमता का कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह की प्रथा है।

अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक-अधिनियम-१९५५' (Hindu Marriage and Divorce Act-1955) के अनुसार 'प्रतिलोम' विवाहो को वैधानिक मान लिया गया है।

४. जंगली जातियों (आदि-वासियों) में विवाह के प्रकार

आदि-वासियो मे आठ प्रकार के विवाह के प्रकार पाये जाते हैं जो निम्न हैं :—

(क) परीक्षण-विवाह (Probationary marriage)
(ख) परीक्षा-विवाह (Marriage by trial)
(ग) अपहरण-विवाह (Marriage by capture)
(घ) क्रय-विवाह (Marriage by purchase)
(ङ) सेवा-विवाह (Marriage by service)
(च) विनिमय-विवाह (Marriage by exchange)
(छ) पलायन-विवाह (Marriage by elopement)
(ज) प्रक्षिप्त-विवाह (Marriage by intrusion)

(क) **परीक्षण-विवाह** (Probationary marriage)—कई जातियों में लड़का कुछ दिन लड़की के पिता के घर आकर रहता है। लड़की-लड़के को मिलने-जुलने की छूट रहती है। अगर कई दिन रहने के बाद लड़का अनुभव करे कि दोनों की प्रकृति मिलती है, तब वे शादी कर लेते हैं, नही तो लडका लडकी के पिता को कुछ मुआविज़ा देकर चला जाता है। कुकी जाति में यह प्रथा पायी जाती है। इस प्रकार के विवाह को 'परीक्षण' कहा जाता है।

(ख) **परीक्षा-विवाह** (Marriage by trial)—कई जातियों में लड़के के बाहु-बल, चातुरी आदि की परीक्षा लेकर उसके साथ लडकी का विवाह किया जाता है। अपने यहाँ इस प्रकार की परीक्षा के लिये स्वयवर रचे जाते थे। रामचन्द्र जी ने धनुष तोड़ा था, अर्जुन ने चलती मछली की आँख को बीधा था। भीलो में होली के दिनों में एक वृक्ष पर नारियल तथा गुड टाँग दिया जाता है। वृक्ष के चारों तरफ़ गाँव की लड़कियाँ घेरा बनाकर नाचने लगती हैं, उनके गिर्द पुरुषो का एक दूसरा घेरा लग जाता है। जो लडका चाहे लड़कियों के घेरे को चीर कर वृक्ष पर चढ सकता है। लड़कियों के घेरे को जो भी चीरने का साहस करता है उसे लडकियाँ मारती हैं, पीटती हैं, नोचती हैं, काटती हैं, परन्तु जो इस सबको पार कर ऊपर चढ जाता है उसे इन लड़कियो में से किसी को भी चुनने का अधिकार होता है।

(ग) **अपहरण विवाह** (Marriage by capture)—कुछ विद्वानों के कथनानुसार 'अपहरण-विवाह' विवाह के क्षेत्र में मनुष्य की सबसे पहली ईजाद थी। आदि-काल का मानव युद्ध-प्रिय था। जब किसी जाति के लोग दूसरी जाति पर हमला बोलते थे, तो उसकी स्त्रियों को हर लाते थे। इन्हे या तो वे मार डालते थे, या उनसे विवाह कर लेते थे। जिन लोगों में स्त्रियों की कमी होती है, वे जैसे अन्य वस्तुओं के लिये लूट-मार करते हैं, वैसे स्त्रियो का अपहरण करने के लिये भी लूट-मार करते हैं। भारत में दंड-विधान की धाराओ के कारण स्त्रियों

का अपहरण अवैधानिक हो गया है, परन्तु कोई समय था जब कई जातियों में स्त्री प्राप्त करने का यही एक साधन था। नागा जाति के लोग तो सुन्दर स्त्रियों के कारण उन पर हमले न हों इसलिये लडकियों को ही मार दिया करते थे। भील, गोंड तथा इन लोगो में अब भी स्त्रियो का अपहरण किया जाता है, गोंड लोगो में तो माता-पिता की अनुमति से कन्या का अपहरण होता है। देर तक अविवाहित रहना इनमें ठीक नही समझा जाता, इसलिये जब इनकी अनुमति से ही कन्या का अपहरण होता है, तब दिखावे के तौर पर ये इस अपहरण का विरोध करते हैं, लडकी भी दिखावे के लिये रोने लगती है, परन्तु क्योंकि यह सब-कुछ एक-दूसरे की स्वीकृति से होता है इसलिये लडका आसानी से कन्या का अपहरण कर ले जाता है।

(घ) **क्रय-विवाह** (Marriage by purchase)—भिन्न-भिन्न सामाजिक-प्रथाओं के फलस्वरूप कही वर और कही वधू के लिये मूल्य देना पड़ता है। आदि-जातियों में बहुधा 'पत्नी-मूल्य' (Bride price) की ही प्रथा प्रचलित है, कन्या पाने के लिये कन्या का मूल्य चुकाना पड़ता है। कन्या का मूल्य चुकाने के दो कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह कि जिस जाति में कन्या कम होगी उसे कन्या का मूल्य चुकाना पड़ेगा, दूसरा कारण यह कि कन्या अपने माता-पिता के घर उनका काम-काज करती थी, विवाह के बाद उनका काम-काज कौन देखेगा। इसका मुआविजा कन्या के पिता को चुका कर कन्या मिलती है। इन सब बातों को देखकर 'क्रय-विवाह' का आधार आर्थिक प्रतीत होता है। परन्तु आर्थिक-दृष्टि से कन्या का मूल्य चुकाया जाय—यह बात कुछ अनैतिक-सी प्रतीत होती है, इसलिये नागा लोग विवाह के समय कन्या का मूल्य तो चुका देते हैं, परन्तु मूल्य देते हुए जितना दाम पहले लगा रखा होता है उससे १० रुपये कम देते हैं ताकि यह न समझा जाय कि उन्होंने पैसा देकर लड़की को ख़रीदा है।

(ङ) **सेवा-विवाह** (Marriage by servie)—जो लोग 'पत्नी-धन' नहीं दे सकते उन्होंने विवाह की एक और पद्धति निकाली, और वह थी लडकी वाले के यहां नौकरी करके एक तरह से 'पत्नी-धन' को चुका देना। गोंड तथा बैगा जन-जाति में वर कन्या के घर नौकर बन कर रहने लगता है और कुछ वर्ष नौकरी करने के बाद लड़की से शादी कर अपना स्वतन्त्र घर बना लेता है। बिरहौर जन-जाति में कन्या का पिता ही लडके को रुपया उधार देता है, जिसे वह धीरे-धीरे किश्तो में चुकाता है, जब तक पूरी रकम चुका नहीं देता तब तक अपने ससुर के घर में रह कर उसकी नौकरी करता है। नैपाल के गुरखा मज़दूर किसी जौनसार खासी के यहा आकर इस शर्त पर खेती-बाडी का काम करता है कि निश्चित अवधि तक काम करने के बाद खासी माता-पिता अपनी लड़की का उस नैपाली के साथ विवाह कर देगे। बाइबल मे भी जेकब की कथा आती है जिसके अनुसार वह अपने मामा के यहाँ इसलिये सात साल तक नौकरी करता रहा ताकि उसके बाद जेकब का अपने मामा की लडकी से ब्याह हो सके।

(च) **विनिमय-विवाह** (Marriage by exchange)—'पत्नी-धन' देने से बचने का सेवा-विवाह के अतिरिक्त दूसरा तरीका विनिमय के विवाह का है। 'पत्नी-धन' देकर विवाह करने के स्थान में अपनी लडकी देना और उसी परिवार की लड़की विवाह में ले लेने को 'विनिमय-विवाह' कहा जाता है। एक तरह से 'सेवा-विवाह' और 'विनिमय-विवाह'—ये दोनो 'क्रय-विवाह' के ही अलग-अलग रूप हैं।

(छ) **पलायन-विवाह** (Marriage by elopement)—आदि-वासियो में बाल-विवाह की प्रथा नही पायी जाती, वे युवावस्था में ही विवाह करते हैं, जब से वे हिन्दुओं के सम्पर्क में आये हैं तब से कहीं-कही बाल-विवाह शुरू हो गया है। युवावस्था में विवाह माता-पिता की सहमति से ही होता है, परन्तु कभी-कभी

ऐसी स्थिति भी पैदा हो जाती है जब माता-पिता की सहमति के बिना भी प्रेम-वश युवा-युवती विवाह करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर एक-दूसरे के साथ वे घर से भाग जाते हैं। पुराने जमाने मे जब इस प्रकार कोई जोडा भागता था, तो ग्राम की हद तक उसका पीछा किया जाता था। अगर वे पकडे नही जाते थे, तो लोग भी पीछा करना छोड देते थे, और जब-कभी, पीछे, अर्से के बाद वे गांव आते थे तो उन्हें पति-पत्नी मान लिया जाता था। अपहरण और पलायन विवाह मे यह भेद है कि अपहरण मे तो कन्या की अनुमति के बिना लडका लडकी को उडा ले जाता है, पलायन में दोनों की सहमति से पलायन होता है।

(ज) **प्रक्षिप्त-विवाह** (Marriage by intrusion)—जबर्दस्ती के विवाह दो तरह के होते हैं। एक विवाह मे तो लड़का जबर्दस्ती करता है, कन्या न भी चाहे, तो मेले उत्सव आदि मे छिप कर खडा हो जाता है और लडकी के सामने पडते ही उसके माथे पर कुकुम का टीका लगा देता है। टीका लग जाने पर लडकी के माता-पिता को यह विवाह मानना पडता है। जबर्दस्ती के दूसरे प्रकार में लडकी पहल करती है। लडका नही चाहता, लड़के के घर वाले नहीं चाहते, परन्तु लड़की लडके वालो के सिर रहती है, उसे दुत्कारा जाता है तब भी नहीं मानती और हार कर लडके को लडकी से विवाह करना पड़ता है। इस प्रकार के विवाह को हमने प्रक्षिप्त इसलिये कहा क्योंकि यह एक प्रकार का 'क्षिप्त' अर्थात् जबर्दस्ती लडकी या लड़के के सिर मढा गया विवाह है।

५. प्राचीन भारत में विवाह के प्रकार

जंगली-जातियों में विवाह की पद्धतियो का हमने अध्ययन किया। प्राचीन भारत मे भी विवाह के इनसे मिलते-जुलते कुछ प्रकार थे। मनु, नारद तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति मे विवाह के आठ प्रकार कहे गये हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्रजापत्यस्तथासुरः

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टयोऽधमः । मनु, ३, ६

अर्थात्, विवाह के आठ प्रकार हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच । इन आठों का क्या अर्थ है ?

(क) **ब्राह्म**—योग्य, सुशील, विद्वान युवक को घर पर निमन्त्रित कर कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके कन्या को उस युवक के सुपुर्द कर देना 'ब्राह्म' विवाह है । यह विवाह सादगी का नमूना है ।

(ख) **दैव**—योग्य, सुशील, विद्वान् ब्राह्मण युवक को और बड़े-बड़े विद्वानो को विस्तृत यज्ञ में निमन्त्रित कर के और कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणो से अलकृत कर के युवक के सुपुर्द कर देना 'दैव' विवाह है । यह विवाह तड़क-भड़क का नमूना है । कई लोगो का कहना है कि पुरोहित को कन्या-दान करना 'दैव' कहलाता है, परन्तु अधिक संगत बात यही प्रतीत होती है कि धूम-धाम से विवाह करने को 'दैव' कहा जाता है ।

(ग) **आर्ष**—इस विवाह में कुछ लेने-देने का मामला होता है । वर से एक-एक गाय और बैल या इनका जोडा लेकर कन्या को वर के सुपुर्द कर देने को 'आर्ष' विवाह कहते हैं । यह जन-जातियों के क्रय-विवाह से मिलता-जुलता है ।

(घ) **प्रजापत्य**—इस विवाह में कोई उत्सव नहीं रचाया जाता था, किसी को निमन्त्रित नही किया जाता था । वर तथा कन्या को यज्ञशाला में बैठा कर और सत्कार पूर्वक यह उपदेश देकर कि तुम दोनों साथ-साथ धर्म का जीवन व्यतीत करो एक-साथ कर दिया जाता था । इस विवाह में प्रधानता प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन करने को दी जाती थी, और वर-वधू को यह शिक्षा दी जाती थी कि सन्तानोत्पत्ति के लिये विवाह किया जाता है ।

(ङ) **आसुर**—ऊपर के चार विवाह तो उत्तम माने गये हैं, असुर गान्धर्व-राक्षस-पैशाच अधम माने गये हैं। जब वर अपने पितृ-पक्ष के बन्धु-बान्धवो तथा कन्या पक्ष के बन्धु-बान्धुओ—दोनो को धन देकर विवाह करता है, तब इसे 'आसुर' कहा जाता है।

(च) **गान्धर्व**—जब वर तथा कन्या बिना विवाह-सस्कार के एक-दूसरे की इच्छा-पूर्वक काम भाव से सयोग करने लगते तथा एक-दूसरे के साथ रहने लगते हैं, तब इसे 'गान्धर्व' कहा जाता है।

(छ) **राक्षस**—मार-काट कर, छीन-झपट कर, रोती-बिलपती कन्या का हरण कर लाना 'राक्षस'-विवाह कहलाता है। यह जन-जातियो के अपहरण-विवाह से मिलता-जुलता है। आदि-जातियों में इस प्रकार के विवाह अधिक होते थे।

(ज) **पैशाच**—सोती, पागल, नशे मे उन्मत्त कन्या को एकान्त मे पाकर उसे दूषित कर देना सब विवाहो से नीच 'पैशाच' विवाह कहलाता था, परन्तु इस प्रकार के विवाह को विवाह मानने का यह अर्थ है कि जिस स्त्री के साथ बलात्कार किया गया हो उसे भी समाज में से निर्वासित नही कर दिया जाता था, सिर्फ उस विवाह का दर्जा नीचा माना जाता था, परन्तु इस प्रकार की स्त्री को भी समाज में स्थान था।

इन आठ प्रकार के विवाहो का विवरण सिद्ध करता है कि हिन्दू-समाज मे विवाह के सम्बन्ध मे जितने भी भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं उन सबको स्मृतिकार ने खपाने का प्रयत्न किया है। इनमे से कौन कब प्रचलित था, कब नही था, कौन सबसे पुराना तरीका है—यह गवेषणा का विषय है।

६. हिन्दू-समाज में विवाह

हमने देखा कि विवाह के क्या-क्या प्रकार ससार मे चले हुए हैं। हमारे लिये यह जानना ज्यादा जरूरी है कि आजकल हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी तथा सिक्खो मे विवाह के क्या-क्या प्रकार हैं क्योंकि

इन्हीं का हमसे अधिक सम्पर्क है। हम इन सबके विवाह के प्रकारों का आगे संक्षेप से वर्णन करेंगे।

(क) **अग्नि को साक्षी रखना तथा सप्तपदी—हिन्दू विवाह के दो आवश्यक तत्व**—इस समय हिन्दू-समाज में जो विवाह-प्रथा प्रचलित है उसमे दो बातों का होना लाज़मी है—एक तो अग्नि को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करना, दूसरा सप्तपदी की विधि। सप्तपदी-विधि के सातवें पैर के रखते ही विवाह विधि-वत् पूर्ण कहा जाता है, फिर यह नहीं टूट सकता। विवाह के लिये द्विरागमन आवश्यक नही है। द्विरागमन हो, न हो, अगर सप्तपदी हो चुकी है, तो हिन्दू-विवाह जायज माना जाता है। हाँ, अगर हिन्दुओं में कोई ऐसी जाति-उपजाति है जिसमे विवाह की ऊपर कही गई प्रथा से भिन्न कोई प्रथा हो, उसका अपनी प्रथा के अनुसार विवाह जायज़ माना जायगा। असली बात प्रथा है। ऊपर की विधियों के होने पर विवाह का जायज़ माना जाना भी इसी कारण है क्योंकि अधिकाश हिन्दुओं में अग्नि को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करना तथा सप्तपदी-विधि की प्रथा प्रचलित है।

(ख) **हिन्दू-विवाह में बहु-विवाह का स्थान**—प्रचलित प्रथा के अनुसार हिन्दू-स्त्री के लिए एक पतिव्रत ज़रूरी है; पुरुष इच्छानुसार एक या अनेक जितनी स्त्रियों से चाहता, अब तक विवाह कर सकता था। अब १९५४-५५ में 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक'-अधिनियम के अनुसार पुरुष का बहु-विवाह वर्जित करने का कानून बन गया है। कई स्थानों पर स्त्री अनेक पतियों से विवाह कर सकती है। उदाहरणार्थ देहरादून के पहाडी इलाके जौनसार में यह प्रथा प्रचलित है। अन्य भी अनेक पहाडी स्थानों में यह प्रथा पायी जाती है। मद्रास के नायर लोगो तथा नीलगिरी के टोडा लोगों में भी एक स्त्री का अनेक पुरुषों से सम्बन्ध पाया जाता है। इन सब प्रथाओं को भी प्रथा होने के कारण अपना-अपना स्थान प्राप्त है।

(ग) **हिन्दुओं में बाल-विवाह**—मध्य-युग में हिन्दुओं मे बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इसके अनेक कारणो में सती-प्रथा भी एक कारण था। परन्तु सती-प्रथा बाल-विवाह का परिणाम होने के साथ-साथ कुछ अश मे स्वय भी बाल-विवाह का परिणाम थी। बाल-विवाह से बाल-विधवाओ का होना तो आवश्यक था। विधवा क्या करती ? विधवा के पुनर्विवाह की प्रथा तो मध्य-युग में थी नही, अत विधवा, या तो सती हो सकती थी, या आजन्म वैधव्य बिता सकती थी। मध्य-युग मे सती-प्रथा पर स्मृतिकारो ने जोर देना शुरू किया। यह कहा गया कि जो विधवा पति के साथ जल जायगी वह स्वर्ग पहुँचेगी। कभी-कभी स्त्रियो की वेदना कम करने के लिये उन्हें अफीम खिलाकर, बेहोश करके सती किया जाता था। जलती चिता से जो स्त्रियाँ झुलस कर भागती थी, उन्हें कभी-कभी बाँसों से आग मे धकेला जाता था, कभी-कभी चिता मे रस्सी के साथ बाँध दिया जाता था। इस सम्बन्ध में राजा राममोहनराय ने बडा आन्दोलन किया। १८११ में राजा राममोहनराय ने अपनी भाभी को सती होते देखकर तीव्र आन्दोलन उठाया। उस समय लार्ड बैंटिक गवर्नर-जनरल थे। उन्होंने भी इस आन्दोलन का समर्थन किया और १८२९ मे सती-प्रथा को कानूनन बन्द कर दिया गया।

(घ) **हिन्दुओं में विधवा-विवाह**—बाल-विवाह से विधवाओ की समस्या उत्पन्न हुई थी, विधवाओ की समस्या को हल करने के लिये सती-प्रथा मे तेजी आ गई थी, सती-प्रथा को कानून द्वारा रोक देने से विधवाओ की समस्या फिर उग्र हो उठी। १८५५ में बंगाल के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें विधवा-विवाह को शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया। १८५६ में 'विधवा-विवाह कानून' स्वीकृत हुआ, परन्तु इस कानून के बावजूद विधवा-विवाह करना बुरा ही समझा जाता रहा। इस कानून के स्वीकृत होने के २८-३० वर्ष बाद बहरामजी मलाबारी ने फिर सरकार का विधवाओ की दुर्दशा पर ध्यान

खींचा। धीरे-धीरे जनता का ध्यान इधर जाने लगा। १८८७ में शशिपद बैनर्जी ने कलकत्ता के पास बरहानगर में, रमाबाई ने बम्बई में विधवाश्रम खोले, और १८९६ में श्री कर्वे ने विधवाश्रम स्थापित किया। १९०६ से आर्य-समाज ने इस दिशा में वेग से काम शुरू किया। १९१४ में सर गंगाराम ने लाखों की सम्पत्ति इस कार्य के लिए दान दी और भारत के हर प्रान्त में 'विधवाश्रम' स्थापित किये। अब देश वासियों का ध्यान विधवाओं की समस्या की तरफ काफी जा चुका है और जा रहा है।

(ङ) हिन्दुओं में सपिंड विवाह का निषेध—हिन्दुओ में विवाह जाति के भीतर हो सकता है, बाहर नही। इसे 'अन्तर्विवाही-प्रथा' (Endogamy) कहा जाता है। ब्राह्मण ब्राह्मणों में ही विवाह कर सकता है, क्षत्रियों या वैश्यो में नहीं। अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक कानून' के अनुसार 'असवर्ण'-विवाह को वैध मान लिया गया है। जो अपने वर्ण में शादी करना चाहें उन पर कोई रोक नही, परन्तु जो अपने वर्ण के बाहर शादी करना चाहें उन पर की रोक हटा दी गई है।

जैसे समाज में यह विधान था कि अपनी जाति में ही शादी हो सकती है, वैसे ही अपनी जाति में भी कुछ ऐसी पीढ़िया गिनाई गई थीं जिनमें शादी नही हो सकती। इस प्रकार कहाँ-कहाँ शादी नहीं हो सकती इसको गिना देना, 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) कहलाता है। हिन्दू-प्रथा के अनुसार 'सपिंड' विवाह नही हो सकता, यह 'बहिर्विवाही'-क्षेत्र है। 'सपिंड' का क्या अर्थ है? बालक का दो व्यक्तियो से सम्बन्ध होता है—पिता से, और माता से। प्राचीन शास्त्रकारो ने पिता की सात पीढियों और माता की पाच पीढियों में विवाह का निषेध किया था। इसी को 'सपिंडता' कहते हैं। इस प्रकार का सपिंड-विवाह नही हो सकता। जिसका विवाह होने को है उससे पीढी की गणना की जाती है। अब जो 'हिन्दू विवाह तथा तलाक'-अधिनियम स्वीकृत हुआ है उसके अनुसार पिता की वर्जित पीढियाँ सात से पाँच तथा माता की

वर्जित पीढ़ियाँ पाँच से तीन कर दी गई हैं। अर्थात्, अब सपिंड-विवाह के निषेध का अर्थ होगा कि पिता की पाँच तथा माता की तीन पीढ़ियों में शादी न कर सकना। इस दृष्टि से 'सपिंड-विवाह-निषेध' तथा 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) का एक ही अर्थ है। सपिंड-विवाह 'समान-रुधिर-विवाह, (Consanguineous marriage) का ही दूसरा नाम है। सपिंड-विवाह के निषेध का अर्थ है समान-रुधिर वालो के आपसी विवाह की मनाही।

(च) हिन्दुओं के सगोत्र-विवाह का निषेध—सपिंड के अतिरिक्त सगोत्र-विवाह का भी हिन्दू-समाज में निषेध है। गोत्र की समानता समान रुधिर वालो में भी हो सकती है, असमान-रुधिर वालो में भी। भाई-बहिन का, जब तक बहिन की शादी नही हो जाती, एक ही गोत्र होता है, शादी के बाद लड़की का गोत्र बदल जाता है, जहाँ शादी होती है, वहाँ का उसका गोत्र हो जाता है। जिन लोगो से हमारा रुधिर का कोई सम्बन्ध नही उनका और हमारा भी एक ही गोत्र हो सकता है। १९४६ के 'सगोत्र-विवाह'-कानून के अनुसार अब 'सगोत्र-विवाह' पर कोई प्रतिबन्ध नही रहा। 'सगोत्र-विवाह' को समान-रुधिर-विवाह नही कहा जा सकता, 'सपिंड' को समान-रुधिर-विवाह कहा जा सकता है।

(छ) हिन्दू-विवाह तथा तलाक—हिन्दू-समाज मे अब तक स्त्री-पुरुष को 'तलाक' का कानूनी अधिकार नही था। पुरुष अपनी स्त्री को छोडकर या बिना छोड़े दूसरा विवाह कर सकता था, परन्तु स्त्री पुरुष को छोडकर दूसरा विवाह नही कर सकती थी। जहाँ प्रथा हो वहाँ की दूसरी बात है, परन्तु आम हिन्दू-कानून यही था। अगर पुरुष ने स्त्री को छोड दिया है, तो अपने भरण-पोषण के लिये वह कानून का सहारा लेकर पति से सहायता लेने की अधिकारिणी थी, और अगर स्त्री अपनी मर्जी से छोडकर गई है, तो पति उसे कानूनन अपने पास ला सकता था, यह कहना कि पति ने

दूसरी शादी कर ली है, या व्यभिचारी है, इस बात में अब तक रुकावट नहीं था। अगर यह सिद्ध हो जाता कि पति कुष्ठ-आतशक आदि किसी असाध्य रोग से पीडित है, अविवाहिता को घर रखे हुए है, मार-पीट करता है, स्त्री का उसके घर आकर रहना असुरक्षित है, और फिर भी अगर पति जबर्दस्ती पत्नी को अपने पास रखना चाहता था, और इस के लिये अदालत का सहारा चाहता था, तब अदालत को अधिकार था कि पत्नी के विरुद्ध पति के दावे को खारिज कर दे। अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक कानून' के अनुसार पति-पत्नी दोनों को किन्ही खास-खास अवस्थाओं मे तलाक का अधिकार दे दिया गया है। वे अवस्थाएँ हैं—(१) अगर यह सिद्ध हो जाय कि दोनों में से कोई भी शादी के समय नपुंसक था और अब तक है, (२) अगर यह सिद्ध हो जाय कि पति किसी दूसरी स्त्री को रखैल के तौर से रखे हुए है या पत्नी का किसी दूसरे पुरुष के साथ सम्बन्ध है या वह वेश्या का जीवन व्यतीत कर रही है (३) अगर दोनों में से कोई एक हिन्दू-धर्म का परित्याग करके दूसरे धर्म मे प्रवेश कर ले, (४) अगर दोनो में से कोई भी एक मानसिक-रोग से इतना पीडित है कि उसका इलाज नही हो सकता और कम-से-कम पाँच साल से उसकी चिकित्सा होती रही है, तथा (५) अगर यह सिद्ध हो जाय कि दोनो में से कोई असाध्य कुष्ठ-रोग से पीडित है।

(ज) हिन्दू-विवाह तथा विवाह के एक प्रकार का ठेका होने का विचार—यद्यपि हिन्दुओं मे विवाह एक धार्मिक-कृत्य है, 'संस्कार' (Sacrament) है, जन्म-जन्मातर के चक्र का फल है, पति-पत्नी का इसी जन्म का साथ-साथ रहने का समझौता या ठेका नहीं, तथापि अब जो प्रवृत्तियाँ चल पड़ी हैं, जो नये कानून बन रहे हैं, उनके अनुसार यह भी एक 'ठेके' (Contract) का रूप धारण करता जा रहा है। विवाह जिस मतलब से किया जाता है अगर यह उस मतलब को पूरा करता है तो ठीक, अगर अपने मतलब को पूरा नही करता, तो टूट

सकता है—यह विचार जो अब तक अपने यहाँ नहीं था अब हिन्दू-समाज में भी बढ़ रहा है।

७. मुस्लिम-समाज में विवाह

मुसलमानों में विवाह को एक 'ठेका' (Contract) माना जाता है। ठेका दो व्यक्तियो मे होता है, और अपनी मर्जी से होता है, इसलिए मुसलमानो मे विवाह का 'प्रस्ताव' और 'स्वीकृति'—ये दोनों आवश्यक मानी गई हैं। प्रस्ताव करते हुए कहा जाता है कि मैंने तुम्हारे साथ विवाह किया, और इस प्रस्ताव की स्वीकृति देते हुए कहा जाता है कि मुझे यह विवाह मजूर है। मुसलमानो में स्त्री अनेक पतियो से शादी नही कर सकती, परन्तु पुरुष को चार स्त्रियो तक शादी करने का अधिकार है। इस दृष्टि से इनमें बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित है। दूसरे की विवाहिता पत्नी से शादी नही की जा सकती। इसी कारण जब भारत मे मुसलमान आये, तो हिन्दुओ ने अपनी छोटी बच्चियो की शादी करना शुरू कर दिया। पति की मृत्यु या तलाक के बाद ही स्त्री दूसरी शादी कर सकती है। तलाक हुआ हो तो तीन, और पति मर गया हो तो चार चान्द्र-मास बीत जाने पर स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है, अगर स्त्री गर्भवती हो तो सन्तान उत्पन्न होने के बाद। जिस प्रकार अन्य जातियों में कई सम्बन्ध विवाह मे निषिद्ध हैं, जिन्हे 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) कहते हैं, इसी प्रकार मुसलमानों मे पिता की स्त्रियों, माताओं अपनी लड़कियो, अपनी सगी बहनों, चाची-मामियो, भाई-बहिन की लडकियों से शादी मना है। मुसलमान स्त्री गैर-मुसलिम पुरुष से शादी नही कर सकती, परन्तु मुसलमान पुरुष मुस्लिम, ईसाई तथा यहूदी स्त्री से शादी कर सकता है। विवाह के समय लडके को लड़की के लिए भेंट या दहेज देना पडता है, जिसे 'महर' कहते हैं। कहते हैं, हजरत मुहम्मद ने कम-से-कम १० दिरम देने का आदेश दिया था जिसका आजकल की परिभाषा में १०७ रुपया अर्थ बनता है। दिरम

को दो भागों में बाँटा गया है। आधा भाग तो विवाह के समय ही देना होता है, बाकी आधा भाग स्त्री को तलाक हो तब, या पति की मृत्यु के समय मिल जाता है। 'महर' वह सम्पत्ति है जिसे पति विवाह के समय पत्नी को देता है। यह चार प्रकार का हो सकता है। 'निश्चित-महर' वह है जिसे पति-पत्नी निश्चित कर लें। 'उचित-महर' वह है जिसे अदालत पति की स्थिति को देखकर तथा पत्नी के परिवार की दूसरी लड़कियों को मिले महर को देख कर तय करती है। 'सत्वर-महर' वह है जो पत्नी के मांगने पर फौरन देना पड़ता है, 'स्थगित-महर' वह है जो तलाक के समय दे दिया जाता है। विवाह के समय ही पति-पत्नी यह तय कर लेते हैं कि कितना 'महर' उक्त परिभाषा के अनुसार 'सत्वर' होगा, कितना 'स्थगित' समझा जायगा। मुसलमानों मे एक और प्रकार का विवाह भी माना गया है। यह शिया-सम्प्रदाय में प्रचलित है, और इसे 'मुताह' कहते हैं। 'मुताह'-विवाह एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है, जो उस अवधि के समाप्त होने पर समाप्त समझा जाता है। यह एक प्रकार का 'साथी-विवाह' (Companionate marriage) है। इस दृष्टि से मुसलमानों के शिया लोग अमरीकनों से भी आगे बढ़े-चढ़े हैं। इस विवाह से जो सन्तान हो वह जायज़ मानी जाती है।

८. अंग्रेज़ तथा भारतीय-ईसाइयों में विवाह

जब अंग्रेज़ भारत में आये, उनमे से कई यहाँ बस गये, पादरियों ने यहाँ के लोगों को ईसाई मत की दीक्षा देनी शुरू की, तब से यह अनुभव किया जाने लगा कि अंग्रेज़ तथा भारतीय ईसाइयों के विवाह के लिये पृथक् कानून बनाने की आवश्यकता है। अंग्रेज-ईसाइयों पर विवाह का अंग्रेज़ी कानून लागू हुआ, परन्तु भारतीय-ईसाइयो पर न सिर्फ़ अंग्रेज़ी कानून लागू हो सकता था, न सिर्फ भारतीय कानून। उनके लिये १८७२ में 'इण्डियन क्रिश्चियन मैरेज एक्ट' बनाया गया।

यह विवाह दो तरह से हो सकता है—या तो गिर्जे में, या रजिस्ट्रार के सामने जाकर विवाह को रजिस्टर्ड कराने से। गिर्जे में हो, तो प्रातःकाल ६ से लेकर सायंकाल ७ बजे तक हो सकता है, अगर आस-पास ५ मील तक कोई गिर्जा न हो, तो जिस स्थान पर विवाह होना हो उस स्थान की विशेष तौर पर स्वीकृति लेना ज़रूरी है। विवाह करने से पहले उसका सार्वजनिक स्थान पर नोटिस चिपकाया जाता है। अगर किसी को कोई आपत्ति न हो, तो दो मास के भीतर विवाह कर लेना आवश्यक है, न हो, तो दुबारा नोटिस देना पडता है। विवाह के समय गिर्जे में या रजिस्ट्रार के सामने, जिस प्रकार की भी शादी हो रही हो, कहना पडता है कि जो व्यक्ति यहां साक्षी के तौर से उपस्थित हैं उनके सम्मुख मैं यह घोषणा करता हूं कि अमुक को मैं अपनी वैध स्त्री (अथवा वैध पति) स्वीकार करता हूं। अंग्रेज तथा भारतीय-ईसाइयों की इस घोषणा के शब्दों में थोडा-सा भेद है, वैसे दोनो में विवाह की प्रथा समान है। इनमे एक-विवाह-प्रथा है और विवाह का रूप एक ठेके का है।

६. पारसी तथा सिक्खों में विवाह

पारसियो मे भी विवाह तथा तलाक दोनो प्रचलित हैं। १८६५ में इनका विवाह-कानून बना जिसे 'पारसी विवाह तथा तलाक अधिनियम—१८६५' (Parsee Marriage and Divorce Act of 1865) कहते हैं। इनका विवाह पारसी पुरोहित द्वारा दो साक्षियों के सामने होना चाहिये। सस्कार का नाम 'आसीर्वाद' है, आसीर्वाद के बिना कोई विवाह नही हो सकता। बहु-विवाह निषिद्ध है। विवाह एक 'ठेका' है, इसलिये किन्ही खास अवस्थाओ मे तलाक जायज़ है। सिक्खों की विवाह की प्रथा को 'आनन्द-विवाह' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में १९०९ मे कानून बना जिसका अभिप्राय यह था कि 'आनन्द'-विधि से जो विवाह-सस्कार हो, वे जायज़ समझे जायेंगे। इस विधि में यज्ञ

आदि कुछ नही होता, गुरु-ग्रन्थ-साहब का आनन्द-पाठ होता है। सिक्खों में तलाक की प्रथा नही है।

१०. स्पेशल-मैरेज-एक्ट

जिन विवाहो का हमने वर्णन किया वे भिन्न-भिन्न धर्मों को आधार बनाकर किये जाते हैं, परन्तु यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी धर्म-विशेष को न मानता हो। ऊपर कहे गये विवाहों में जो जिस धर्म को मानता है वह उसी धर्म वालों मे विवाह कर सकता है। 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक'-अधिनियम जो १९५४-५५ में स्वीकृत हुआ है उसमें, हिन्दुओ में भी जो जातियो के बन्धन हैं उन्हें शिथिल किया गया है, धर्म के बन्धन को नही। बगाल मे ब्राह्मोसमाज के अनुयायियो ने आन्दोलन किया कि भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वालों को अधिकार होना चाहिये कि वे आपस मे शादी-विवाह कर सकें। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि १८९२ में 'स्पेशल-मैरेज-एक्ट' पास हुआ। इस विवाह मे वर-वधू को यह घोषित करना पडता है कि वे ईसाई यहूदी, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, बौद्ध, सिक्ख या जैन किसी धर्म को नही मानते। इसका यह मतलब नहीं कि व्यक्ति के ऊपर किसी धर्म-विशेष का कोई नियम लागू नही हो सकता। सम्पत्ति, दायभाग आदि के सम्बन्ध में उनके वैयक्तिक-धर्म के कानून ही उन पर लागू समझे जाते हैं। इस कानून के अधीन विवाह करने वाले की पत्नी या विवाह करने वाली का पति जीवित नहीं होना चाहिए, वर की १८ तथा वधु की १४ वर्ष से कम आयु नहीं होनी चाहिए, अगर दोनों में से कोई भी पक्ष २१ वर्ष से कम आयु का है, तो उसे अपने अभिभावकों की स्वीकृति लेनी चाहिए, दोनों का रुधिर का सम्बन्ध नही होना चाहिए। विवाह से पूर्व दोनो में एक को विवाह का नोटिस देना चाहिए, नोटिस रजिस्ट्रार के यहाँ दर्ज होना चाहिए, इसके १४ दिन बाद यह विवाह हो सकता है। प्रायः इस कार्य के लिए

डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट रजिस्ट्रार का कार्य कर देता है। उसके सामने तीन साक्षियों को लाना होता है जिसके समक्ष वर-वधू एक-दूसरे के लिए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम एक-दूसरे को पति-पत्नी स्वीकार करते हैं। इसके बाद उन्हें विवाह का एक सर्टीफिकेट दे दिया जाता है। यह विधि विवाह को ठेका मानकर चली है अतः इसमें तलाक हो सकता है।

१९२३ मे इस विधान में कुछ परिवर्तन किया गया। इस प्रकार का विवाह करने वालो को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार न रहा, और अगर जो व्यक्ति इस प्रकार से अपनी शादी करता था वह किसी का दत्तक-पुत्र होता था तो उसे उस परिवार से अपने को पृथक समझना होता था।

प्रश्न

१ प्राचीन भारत में कौन-कौन-से विवाह के प्रकार माने जाते थे ?

२. हिन्दू-समाज में विवाह के कौन-कौन-से आवश्यक तत्व हैं?

३. मुसलमानों के विवाह के विषय में आप क्या जानते हैं ?

४. ईसाइयों की विवाह-प्रथा क्या है ?

५. सिक्खों में विवाह कैसे होता है ?

६ संसार की जंगली जातियों (जन-जातियों) में विवाह के कौन-कौन से प्रकार प्रचलित हैं ?

५

सामाजिक-विधान तथा उसका विवाह पर प्रभाव

(SOCIAL LEGISLATION AND ITS EFFECT ON MARRIAGE)

प्राचीन-काल मे जब राज्य का उदय नही हुआ था, समाज का शासन 'प्रथाओं' द्वारा होता था। समाज को जो व्यवस्था आवश्यक लगी वह चल पडी, और जो देर तक चलती रही, वह 'प्रथा' हो गई। अब इस 'प्रथा' को तोडना कठिन हो गया। जो इस 'प्रथा' को तोड़ता उसका बहिष्कार हो जाता। जब समाज में राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब 'प्रथा' का स्थान 'कानून' ने ले लिया। कभी-कभी तो 'प्रथा' तथा 'कानून' ऐसे थे जिनकी परिस्थितियों के अनुसार आवश्यकता थी, कभी-कभी ऐसी स्थिति भी उत्पन्न होती रही जब परिस्थितियां बदल गई, परन्तु 'प्रथा' तथा 'कानून' वही रहे। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब दो बातें होती हैं। या तो लोग स्वयं उस 'प्रथा' या 'कानून' को बदलने का आन्दोलन करते हैं, या राज्य के हस्तक्षेप से वह 'प्रथा' या 'कानून' बदल कर नवीन परिस्थितियों के अनुसार नया कानून बना दिया जाता है। जब व्यक्तियो द्वारा 'प्रथा' या 'कानून' को बदलने का आन्दोलन होता है तब उसे 'सुधार' (Reform) कहते हैं, जब राज्य के हस्तक्षेप से यह कार्य होता है तब उसे 'कानून' (Law) या 'विधान' (Legislation) कहते हैं।

देश में सदा दो तरह के विचारक रहा करते हैं—रूढ़िवादी तथा सुधारवादी। रूढिवादी पुरानी प्रथा के दास बने रहना पसन्द करते है। वे पुराना जो-कुछ भी हो उसे बदलना नही चाहते। सुधारवादी परिस्थितियो के बदल जाने पर 'प्रथा' या 'कानून' को बदल देना चाहते हैं। सुधारवादियो में भी कुछ लोग जनता मे आन्दोलन द्वारा परिवर्तन चाहते हैं, राज्य द्वारा नही, कुछ लोग चाहते हैं कि राज्य अपने हस्तक्षेप द्वारा परिवर्तन कर दे, फिर जनता अपने-आप इन परिवर्तनों के लिये अपने को अभ्यस्त कर लेगी। कभी-कभी तो जनता राज्य द्वारा किये गये परिवर्तन को बिना ज्यादा ननु-नच के स्वीकार कर लेती है, कभी-कभी राज्य द्वारा किए गए परिवर्तन को देखकर जनता चौक उठती है और राज्य ही डांवाडोल हो जाता है।

राज्य को चाहिए कि जिस सामाजिक-प्रथा मे कानून द्वारा परिवर्तन लाना चाहे, पहले उसके लिए जन-मत तैयार कर ले। जब जनता के आन्दोलन द्वारा किसी रूढि की, प्रथा की जान निकल जायगी तब, बोदी दीवार को जैसे एक धक्के से गिरा दिया जाता है, वैसे थोथी प्रथा को कानून के हल्के-से धक्के से खत्म कर दिया जा सकता है। बिना जन-मत तैयार किये कभी-कभी राज्य के हस्तक्षेप से लेने के देने पड़ जाते हैं। कभी-कभी जब कोई प्रथा समाज को सीधा नुकसान पहुँचा रही हो, तब राज्य को इन्तजार किये बिना हस्तक्षेप करने की जरूरत पड जाती है। उदाहरणार्थ, जब सती-प्रथा इस देश में प्रचलित थी तब लार्ड बेंटिक ने जबर्दस्ती इस प्रथा को रोकने का कानून बनवाया। लोग कहते थे, यदि ऐसा कानून बना तो उपद्रव हो जायगा। परन्तु जीते-जी एक स्त्री को आग की लपटो की भेंट कर देना—इससे क्रूर कार्य क्या हो सकता था। ऐसी हालतो मे पहले-पहल कुछ हलचल होती है, पीछे जनता स्वयं उसी प्रकार सोचने लगती है, जनता का विचार-स्तर ऊँचा उठ जाता है। परन्तु अच्छा यही है कि राज्य उन्ही बातो में हस्तक्षेप करे जिनसे समाज को सीधा नुकसान पहुँच रहा हो, अन्यथा जन-मत जागृत हो जाने

पर हस्तक्षेप करे। वहाँ भी ऐसे कानून बनाये जो 'इच्छात्मक-विधान' (Permissive legislation) हों। उदाहरणार्थ, जात-पाँत तोड़ कर शादी होनी चाहिए या नहीं—यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर जबर्दस्ती किसी को जात-पाँत तोड़ने के लिए बाधित नही किया जा सकता, परन्तु अगर कोई तोड़ना चाहे तो उसे तोडने की भी आजादी न हो यह भी ठीक नही प्रतीत होता। ऐसी हालत मे, जो तोडना चाहे, उन्हें जात-पाँत तोड़-कर शादी करने की इच्छा को पूर्ण करने की आज्ञा देने मे क्या हर्ज है ?

भारत में १६ वीं-शताब्दी के मध्य-काल से बीसवी शताब्दी के मध्य-काल तक अनेक सामाजिक सुधार हुए। इन सुधारों का भारत की विवाह-प्रथा पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा तथा आगे पड़ने वाला है, अत. इन सामाजिक-सुधारो पर तथा उनके परिणामस्वरूप विवाह-प्रथा पर पड़ने वाले प्रभाव पर हम यहाँ विचार करेंगे। मुख्य-मुख्य सामाजिक-सुधार निम्न थे—

१. सती-प्रथा के अन्त का कानून—१८२६ (Regulation No. XVII, 1829)

१८२६ से पहले भारत में विधवा के अपने पति की चिता पर सती हो जाने की प्रथा थी। इस प्रथा का नाम लेकर भारतीय-स्त्री के चरित्र की कितनी ही सराहना क्यो न की जाय, यह कहे बिना नही रहा जाता कि जिस समाज मे ऐसी प्रथा चल रही थी वह समाज अत्यन्त गिरी हुई हालत में था। लार्ड बैंटिक का, जो उस समय भारत का शासक था, कहना था कि सिर्फ़ उसके शासन-काल मे केवल बंगाल मे ८०० सती हुईं। उस समय के समाज-सुधारक राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३) ने इस विषय में बड़ा आन्दोलन किया। इस प्रथा के अनुसार विधवा को अफ़ीम खिलाकर बेहोश कर दिया जाता था और जबर्दस्ती उसे चिता पर रख दिया जाता था। आग की लपटो से वह बचकर भागने की कोशिश करती थी, तो बड़े-बड़े बाँसों से उसे धकेल-धकेल कर

वहीं भस्म कर दिया जाता था। जिस समय यह कानून बन रहा था उस समय कई लोगों को यह डर था कि कहीं इस कानून के बनने से देश में विद्रोह न उत्पन्न हो जाय, परन्तु ऐसा-कुछ नहीं हुआ और ४ दिसम्बर १८२९ को रैगूलेशन नं० १७ स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार जीवित-विधवा को सती करना कानून द्वारा दण्डनीय घोषित कर दिया गया।

सती-प्रथा का अभिप्राय यह था कि स्त्री का विधवा होकर जीना व्यर्थ है। अगर स्त्री विधवा होकर पुनर्विवाह नहीं कर सकती तभी तो विधवा होकर उसका जीना व्यर्थ कहा जा सकता था और तभी उसके सामने सती होने का ही एक विकल्प रह जाता था। सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लग जाने पर हिन्दू-समाज में अपने-आप यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ—अगर विधवा सती नहीं हो सकती, तो विधवा स्त्री विवाह क्यों नहीं कर सकती ? इसी जागृति के उत्पन्न होने का परिणाम 'विधवा-विवाह-कानून' बना।

२. विधवा-विवाह कानून—१८५६
(Hindu Widows Remarriage Act XV, 1856)

सती-प्रथा का अन्त होने के बाद भी विधवा-जीवन एक दासता का जीवन था। वह विवाह नहीं कर सकती थी, घर में अपशकुन की तरह जिन्दा थी। इस अवस्था के विरुद्ध जनता में आन्दोलन करने का श्रेय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८०२–१८९१) को है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कई आवेदन-पत्रों पर हस्ताक्षर करवा कर उन्हें सरकार के पास भिजवाया। पक्ष में २५ आवेदन-पत्र आये जिन पर ५,००० हस्ताक्षर थे, जिनमें विधवा-विवाह को कानून का रूप देने की माँग थी; विपक्ष में ४० आवेदन-पत्र आये जिनमें ५०–६० हज़ार हस्ताक्षर थे। फिर भी सर जे० पी० ग्रान्ट के उद्योग से विधवा-विवाह का कानून १८५६ में बन गया जिससे विधवा को विवाह करने की आज्ञा दे दी गई। विधवा-विवाह कानून बन जाने का परिणाम यह तो नहीं हुआ कि सब विधवाएँ

विवाह करने ही लगीं, परन्तु इतना अवश्य हुआ कि जो विधवा स्त्री विवाह करना चाहती है उसके मार्ग में कोई कानूनी बाधा नहीं रही।

३. विशेष-विवाह-कानून—१८७२, १९२३, १९५४
(Special Marriage Act—1872,1923,1954)

१८७२ के कानून के अनुसार उन सब लोगों को आपस में विवाह करने का अधिकार दे दिया गया जो किसी धर्म को नहीं मानते। अगर कोई कहे कि वह ईसाई भी नहीं है, मुसलमान भी नहीं है, हिन्दू भी नहीं है, वह किस कानून के अन्तर्गत शादी करे? विवाह तो अब तक धर्म का एक अंग समझा जाता रहा है और प्रत्येक विवाह किसी-न-किसी धर्म के अन्तर्गत होता रहा है, परन्तु जो किसी धर्म को नहीं मानता उसे भी तो विवाह का अधिकार है। १८७२ के विशेष-विवाह-कानून के अनुसार ऐसे व्यक्तियों को भी विवाह का अधिकार दे दिया गया।

१८७२ के 'विशेष-विवाह-कानून' के अनुसार यह आवश्यक है कि जो स्त्री-पुरुष विवाह करने लगे हैं उनमें से कोई विवाहित न हो, अर्थात् एक-पत्नी तथा एक-पति-व्रत इस विवाह का आवश्यक अंग है। इसमें तलाक की भी छूट है।

१९५४ में १८७२ का कानून रद्द कर दिया गया। १९५४ के इस कानून के अनुसार बातें तो प्रायः सब वही रहेंगी जो १८७२ के कानून में थी, परन्तु अब हर कोई किसी धर्म या जाति मे विवाह कर सकेगा, और जैसे पहले कहना पड़ता था कि मैं किसी धर्म को नही मानता—ऐसा अब नहीं कहना पड़ेगा। विवाह का रूप एक-पति-व्रत तथा एक-पत्नी-व्रत आवश्यक होगा, तलाक का भी दोनों को अधिकार होगा। २१ वर्ष की आयु हो, तो माता-पिता की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं, १८ वर्ष से २१ वर्ष के बीच की आयु हो, तो माता-पिता की आज्ञा लेने की आवश्यकता होगी। विवाह रजिस्टर्ड कराना होगा। अगर

रजिस्ट्री के समय दोनों में कोई पागल हो या मूढ़ हो, तो ऐसे विवाह पर एतराज किया जा सकता है। इस कानून के अन्तर्गत जो शादी होगी उसमें हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन जो-कोई भी शादी करेगा, यह माना जायगा कि उसका अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

४. बाल-विवाह-निषेध कानून (शारदा-एक्ट)—१९३०
(Child-Marriage Restraint Act, 1930)

१९२७ मे डॉ० हरिसिंह गौड के बिल के अनुसार एक कमेटी बनाई गई थी जिसका नाम 'एज ऑफ कनसेंट कमेटी' (Age of Consent Committee) था। इसने इस बात का पता लगाया कि किस आयु में विवाह हानिप्रद नही है। इस कमेटी के परिणाम-स्वरूप १९३० में 'शारदा-एक्ट' स्वीकृत हुआ जिसमें विवाह-योग्य आयु लड़के के लिए १८ और लडकी के लिए १४ निश्चित की गई। इससे कम आयु का विवाह दण्डनीय घोषित कर दिया गया। उसके बाद १९३८ तथा १९४९ में इस कानून में कुछ सुधार हुए जिनके अनुसार विवाह-योग्य आयु लड़के की १८ रही, परन्तु लडकी की १५ कर दी गई। इस विधान के बनने से पहले दुधमुँही बच्चियो की शादियाँ अपने देश में होती थीं, अतः बाल-विवाह को रोकने में इस विधान का बडा हाथ रहा।

५. आर्य विवाह कानून—१९३७
(Aryan Marriage Validating Act, 1937)

आर्यसमाजी जात-पाँत को सिद्धान्तानुसार नही मानते। वैसे तो थोड़े ही आर्यसमाजी ऐसे हैं, जो व्यावहारिक रूप मे जात-पाँत को न मानते हों, लैक्चर बहुत देते हैं, परन्तु फिर भी कई व्यवहार से भी आर्यसमाजी होते हैं, वे जात-पाँत तोडकर शादी करते हैं। हिन्दू-विवाह तो अपनी जाति में ही हो सकता है और 'स्पेशल मैरेज एक्ट' में यह कहना पड़ता था कि वह

हिन्दू भी नही है। ऐसे आर्यसमाजियो के लिए जो हिन्दू भी कहलाना चाहें और जात भी तोड़ना चाहें, श्रीयुत घनश्यामसिंह के उद्योग से यह बिल बना जिसका विवाह-प्रथा पर काफ़ी प्रभाव पड़ा।

६. हिन्दू-विवाह वैधीकरण कानून—१९४९
(Hindu Marriages Validating Act, 1949)

आर्यसमाजियों के लिए तो १९३७ में आर्य-विवाह-कानून बन गया, परन्तु जो हिन्दू जात-पाँत तोड़कर विवाह करना चाहते थे और आर्य-समाजी भी नही थे, उनके लिये क्या हुआ ? उनके लिए पहले-पहल १९४६ में 'हिन्दू-विवाह-निर्योग्यता-निवारण अधिनियम' (Hindu Marriage Disabilities Removal Act) बना, परन्तु इसका लक्ष्य सिर्फ हिन्दुओ की उप-जातियों में जहाँ विवाह नहीं हो सकता था उस विवाह को वैधानिक रूप देना था, हिन्दू किसी भी जाति में विवाह कर सके—यह नहीं था। सबसे पहले मैसूर में १९४८ में अन्तर्जातीय-विवाहों को वैध करने का कानून बना। इसके बाद १९४९ मे भारत से समस्त हिन्दुओ के लिए हर जाति-उपजाति में विवाह को वैध करार देने का उक्त कानून बना दिया गया।

७. हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम—१९५५
(Hindu Marriage and Divorce Act, 1955)

हमारे सामाजिक-विधान में पिछले एक-डेढ़ हजार साल से बहुत थोडा परिवर्तन हुआ। आज की और हजार साल पहले की दुनियाँ में जमीन-आस्मान का अन्तर होगा, फिर भी वही पुरानी सामाजिक-व्यवस्था जो अब से हजार साल पहले थी आज भी प्रचलित है। परिस्थितियाँ बदल गई किन्तु कानून नही बदला। यही कारण है कि वर्तमान कानून हमारे समाज की ज्वलन्त-समस्याओं को हल करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ, उस स्त्री के सम्मुख, जिसका पति उसके जीते-जी

दूसरा विवाह कर लेता है, परित्यक्ता के रूप में दुःखी तथा अपमानपूर्ण जीवन बिताने के अतिरिक्त दूसरा क्या उपाय है ? वह स्त्री जिसका पल्ला एक बार किसी व्यक्ति से बंध गया, चाहे वह पागल या हद्द दर्जे का मूर्ख ही क्यो न हो, उससे आजन्म छूट नहीं सकता। एक लखपति की कन्या यदि विधि के विधान से किसी गरीब घर में ब्याह कर चली गई, तो अपने पिता की सम्पत्ति से उसे कोई हिस्सा नही मिल सकता, क्योंकि कानून के अनुसार केवल पुत्र ही सम्पत्ति का मालिक हो सकता है, पुत्री नही। एक विधवा पत्नी को अपने पति की कमाई पर भी पूरा अधिकार नहीं मिलता। इस प्रकार हमारी वर्तमान कानून-व्यवस्था ने हमारे समाज की समस्याओं को हल करने के स्थान में नई समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। ये समस्याएँ पिछले सौ डेढ़-सौ सालो से तो इतनी उग्र हो चुकी हैं कि लगभग सभी समाज-शास्त्रियो का ध्यान अपने-अपने समय मे इनकी ओर जाता रहा है। पिछले तीस सालो में तो हमारे विधान-निर्माताओ ने नई परिस्थितियो के अनुकूल एक नया हिन्दू-कोड बनाने के अनेक सगठित प्रयत्न किये। 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' इन्ही प्रयत्नो का परिणाम है। यह अधिनियम समाज की अधिकाश ज्वलत समस्याओ का, जिनमे से कुछ की ओर ऊपर संकेत किया गया है, हल करने का प्रयत्न करता है। इसके द्वारा हमारे सामाजिक प्रश्नो को किस प्रकार सुलझाया गया है तथा हमारे सामाजिक जीवन पर इसका व्यावहारिक रूप में क्या प्रभाव पडेगा, इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' का भारत मे प्रचलित विवाह-प्रथा पर जबर्दस्त प्रभाव पडेगा इसलिए इस अधिनियम के दोनो भागो—विवाह तथा तलाक—पर हम यहाँ कुछ विस्तार से विचार करेंगे—

विवाह

विवाह सामाजिक-जीवन का आधार है। विवाह ही पारिवारिक-जीवन के सुख तथा उसकी शान्ति का वास्तविक स्रोत है। प्राचीन-काल

में हमारे यहाँ विवाह की एक आदर्श प्रथा का जन्म हुआ था, जिसके अनुसार स्त्री और पुरुष को विकास की समान सुविधाएँ प्राप्त थीं। दोनों के लिए समान नियम, समान कर्त्तव्य तथा समान अधिकार थे, इसलिए उस समय का समाज अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। कालान्तर में हमारी विवाह की प्रथा विकृत तथा दूषित हो गई। स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाये गए, दोनों को एक ही माप-दण्ड से मापने के स्थान में भिन्न-भिन्न पैमानों से मापा जाने लगा। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में प्रचलित इस दोहरे माप-दण्ड ने समाज में अनेक गम्भीर बुराइयाँ उत्पन्न कर दी जिनका निराकरण इस विवाह-अधिनियम का उद्देश्य है।

(क) **एक-विवाह**—सबसे बड़ी बुराई जो पैदा हुई वह थी पुरुष के लिए बहु-विवाह की छूट। अब तक इस अधिनियम के बनने से पूर्व यह अवस्था थी कि पुरुष एक स्त्री के जीते-जी दूसरी शादी कर सकता था। पुरुष चाहता तो अनेकों विवाह करता चला जा सकता था और अनेक स्त्रियों को अकारण घोर नारकीय-जीवन बिताने के लिए बाध्य कर सकता था। कौन नहीं जानता कि किसी भी स्त्री के लिए अपनी आँखों के सामने अपने पति को दूसरा विवाह करते देखना विष पी लेने से भी अधिक दुखदायी है। सह-पत्नी के घर में आते ही पहली पत्नी को घोर अपमान-जनक जीवन बिताना पड़ता है, पुरुष के दूसरे विवाह का प्रभाव पहली पत्नी के बच्चों पर भी इतना बुरा पड़ता है कि उनका सारा जीवन ही विश्रृंखलित और कुंठित हो जाता है। समस्त पारिवारिक जीवन को अव्यवस्थित तथा कड़वा बना देने वाली बहु-विवाह की यह प्रथा १९५५ में 'हिन्दू विवाह तथा तलाक'-कानून (Hindu Marriage and Divorce Act, 1955) के स्वीकृत हो जाने के साथ समाप्त हो गई। इसके अनुसार पुरुष के ऊपर भी वही प्रतिबन्ध लग गया जो स्त्री पर था। जिस प्रकार स्त्री के लिए पति के जीवित रहते दूसरा विवाह त्याज्य माना जाता था, उसी प्रकार पुरुष के लिए भी पहली पत्नी के जीवित

रहते दूसरा विवाह करना त्याज्य हो गया । अब एक पत्नी के रहते यदि कोई पति दूसरी शादी करेगा, तो वह कानून की दृष्टि में अपराधी और दण्डनीय माना जायेगा । इस प्रकार यह कानून स्त्री और पुरुष दोनो के लिए 'एक-विवाह' की अनिवार्यता को राजकीय नियम का रूप दे देता है । बहु-विवाह की प्रथा समाप्त होने से, समाज में स्त्री और पुरुष के बीच जो विषमता थी, और उस विषमता के कारण स्त्री को जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता था, उन सब का अब अन्त होगा । स्त्री के वैवाहिक-जीवन में एक सुरक्षा की भावना पैदा होगी, और उसका जीवन पहले से अधिक सम्मानपूर्ण और सुखी बनेगा । इस नियम का परिणाम यह भी होगा कि हमारे समाज मे अब तक जो अनमेल विवाह होते थे, वे बहुत हद तक रुक जायेंगे । पुरुष को क्योंकि अनेको शादियाँ करने का अधिकार था, उसे छोटी आयु की कुमारी कन्याओं से भी शादी कर लेने की छूट थी, जो अब भी है, इसलिए अक्सर साठ वर्ष के बुड्ढे अट्ठारह-बीस वर्ष की कुमारी लडकियो से विवाह करते पाये जाते थे । इन अनमेल विवाहो से भी समाज के अन्दर भीषण बुराइयाँ पैदा होती थी । अब इस 'एक-विवाह' सम्बन्धी कानून का परिणाम यह होगा कि समाज बहुत से दोषो से मुक्त होकर उन्नति के मार्ग पर तीव्र गति से बढ सकेगा ।

(ख) **अन्तर्जातीय-विवाह**—'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' के द्वारा अन्य जो सुधार हुए उनमें से एक यह है कि अब हिन्दुओं के अन्तर्गत एक जाति के लोगो को दूसरी जाति मे विवाह करना अधिक सुविधापूर्ण हो जायेगा । अभी तक कानून 'अनुलोम' विवाहों को तो मान्यता देता था, 'प्रतिलोम' विवाहो को नही । ब्राह्मण का लड़का यदि क्षत्रिय की लडकी से शादी कर लेता, तो वह वैधानिक तथा शास्त्र-सम्मत माना जाता था, किन्तु यदि ब्राह्मण की लड़की क्षत्रिय या वैश्य के लडके से विवाह कर लेती थी तो कानून उसे अवैध मानता था । इस प्रकार के 'प्रतिलोम' विवाह जब होते थे, तो उन्हे वैधानिक रूप देने के

लिए 'स्पेश्यल मैरिज-एक्ट' की शरण लेनी पड़ती थी और अदालत के सामने कहना पड़ता था कि हम किसी धर्म को नहीं मानते क्योंकि 'स्पेश्यल मैरिज एक्ट' के अनुसार वही लोग शादी कर सकते थे जो यह घोषणा करें कि वे किसी धर्म के अनुयायी नहीं हैं। अब जो परिवर्तन हुआ है उससे 'प्रतिलोम' विवाह भी वैधानिक माने जायेंगे, अर्थात् यदि ब्राह्मण जाति की लडकी का विवाह क्षत्रिय के साथ, या क्षत्रिय कन्या का विवाह वैश्य लडके के साथ हो जाये, तो हिन्दू रहते हुए भी ऐसे विवाह की सन्तान को सम्पत्ति सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त होंगे। इससे अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलेगा और जाति-प्रथा के, जो राष्ट्र की एकता मे आज सब से अधिक बाधक है, उन्मूलन का मार्ग खुल जायेगा।

(ग) **सगोत्र तथा असपिंड विवाह**—अब तक हिन्दू अपने गोत्र और अपने प्रवर में शादी नहीं कर सकते थे। समझा यह जाता है कि एक गोत्र तथा एक प्रवर के लोग एक ही वंश से रुधिर के सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। परन्तु यह बात गलत है क्योंकि भिन्न-भिन्न जातियों में एक ही गोत्र पाया जाता है, और एक ही माता-पिता की सन्तान में भिन्न-भिन्न गोत्र पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, बलराम तथा श्रीकृष्ण भाई-भाई थे परन्तु पुराणो के अनुसार बलराम का गोत्र गार्ग्य तथा श्रीकृष्ण का गोत्र गौतम था। गोत्र मे विवाह के निषेध का परिणाम यह है कि श्री करन्दीकर के कथनानुसार एक हिन्दू के लिये २१२१ लडकियाँ वर्जित हैं। इसी प्रकार हिन्दू का सपिंड में विवाह नहीं हो सकता। सपिंड का अर्थ है—अपनी पीढी का। हिन्दुओं के विचार के अनुसार पिता की सात तथा माता की पाच पीढियाँ छोड़कर विवाह होना चाहिए। अब जो १९५५ का कानून बना है उसके अनुसार गोत्र का झगड़ा हटा दिया गया है और सपूर्ण भारत में किसी भी गोत्र मे विवाह हो सकता है। ऐसा विवाह पहले अवैध माना जाता था, अब वैध माना जायगा। सपिंड मे भी पिता की सात की जगह पाच तथा माता की पांच की जगह

तीन पीढ़ियाँ निषिद्ध कर दी गई हैं। इससे विवाह का क्षेत्र जो अत्यन्त सीमित हो गया था विस्तृत हो जायेगा।

(घ) **बाल-विवाह पर रोक**—१८६० में 'भारतीय दंड-विधान' (Indian Penal Code) बना। उस समय १० वर्ष से कम आयु की कन्या का विवाह दण्डनीय माना गया। १८९१ में यह आयु १० से बढ़ा कर १२ वर्ष कर दी गई। जब आयु १० से १२ वर्ष की जा रही थी तब इसका हिन्दू पंडितों की तरफ़ से बहुत विरोध हुआ। सर एण्ड्रू स्कोबल जो इस सुधार के प्रस्तावक थे उन्होंने कहा कि राज्य को अपनी प्रजा के उस वर्ग के हितो की रक्षा करने का अधिकार है जो वर्ग अपनी रक्षा अपने-आप नही कर सकता। १९२५ मे यह आयु बढा कर १३ कर दी गई। उसके बाद 'बाल-विवाह-निरोधक-अधिनियम' (Child Marriage Restraint Act) के अनुसार जिसे 'शारदा-कानून' (Sharda Act) भी कहा जाता है, १९३० में यह आयु लड़के के लिए १८ और लड़की के लिए १४ कर दी गई। इसके बाद १९३८ तथा १९४९ में इसमें फिर परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार लडकी १५ तथा लड़का १८ वर्ष से कम की आयु में विवाह नही कर सकते। अभी १९५५ में जो 'हिन्दू विवाह तथा तलाक कानून' (Hindu Marriage and Divorce Act, 1955) स्वीकृत हुआ है उसमे भी विवाह की आयु लडके तथा लड़की के लिए क्रमशः १८ तथा १५ रखी गई है जिससे बाल-विवाह पर रोक लग जाती है।

हमारी दृष्टि से तो आयु की यह सीमा कम ही रखी गई है। विवाह की न्यूनतम आयु लड़की की १८ वर्ष से और लडके की २५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। विवाह की आयु जितनी ऊँची होगी, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से हमारी भावी सन्तति उतनी स्वस्थ तथा विकसित होगी। इसके अतिरिक्त आजकल की दिनोदिन बढ़ती जन-संख्या पर भी वह प्रतिबन्ध का काम करेगी। हमे आशा है, हमारे विधान-निर्माता इस 'अधिनियम' द्वारा निर्धारित विवाह की उपरोक्त

न्यूनतम-आयु से ही सन्तुष्ट न हो जायेंगे, अपितु शीघ्र ही उसमें उचित परिवर्तन करने के लिए उपयुक्त संशोधन लायेंगे।

इसी प्रकार वर्तमान 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' विवाह के क्षेत्र में उठती हुई अनमेल तथा बाल-विवाह जैसी अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान कर सकेगा। किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस क्षेत्र में जिन सुधारों की आवश्यकता थी वे सभी इस कानून से पूरे हो जायेंगे। इसके उपरान्त भी हमारी दृष्टि में अभी सुधार की काफी गुंजाइश है। उदाहरणार्थ, विधुर के कुमारी कन्या से विवाह की प्रथा जो इस समय शिक्षित-समाज तक मे प्रचलित है, समाज के अन्दर कई जटिलतायें उत्पन्न कर देती है। इस समय ४०–५० वर्ष का विधुर यदि चाहे तो १८–२० वर्ष की कुमारी कन्या से विवाह कर सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका परिणाम न तो कुमारी कन्या पर ही अच्छा पडता है, और न ही विधुर के बच्चों पर। इसके अतिरिक्त समाज मे जो विधवायें हैं, उनके लिये पुनर्विवाह करना एक विषम समस्या बन जाती है, क्योंकि विधुर को जब कुमारी कन्या सरलता से मिल जाती है, तो वह विधवा से विवाह करना नहीं चाहता। इन सब विषम परिणामों का निराकरण करने का यही उपाय था कि कानून द्वारा विधुर के कुमारी कन्या से विवाह पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया जाता। जिस समय विवाह विधेयक पर संसद् में विचार हो रहा था, तब श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने इस आशय का एक संशोधन प्रस्तुत भी किया था जिसका अभिप्राय यह था कि विधुर केवल विधवा से और विधवा केवल विधुर से ही विवाह कर सके—ऐसी एक शर्त और विवाह की शर्तों में जोड दी जाय। किन्तु इस प्रकार की शर्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कड़ा प्रतिबन्ध होगा—ऐसा कह कर सदन में यह संशोधन गिरा दिया गया। यदि उपरोक्त संशोधन मान लिया जाता, तो इस अधिनियम मे जो अधूरापन रह जाता है वह न रहता। हमें

विश्वास है कि निकट-भविष्य में ही वह समय आयेगा जब कि विवाह-कानून के इस दोष को निकाल दिया जायेगा ।

सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक)

विवाह एक अटूट और धार्मिक-सम्बन्ध है—यह विचार-परम्परा हमारे समाज में बहुत देर से चली आ रही है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक सुन्दर और ऊँची कल्पना है, किन्तु अपने समाज में इस सिद्धात का पालन गत कई शताब्दियो से एक पक्ष की ओर से ही हुआ, दूसरा पक्ष तो निरतर इसका उल्लघन ही करता रहा। जहाँ तक स्त्री का सम्बन्ध रहा, वहाँ तक तो विवाह एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता रहा, किन्तु पुरुष ने चाहा तो एक के बाद एक विवाह करता रहा, और एक नही अनेक बार विवाह के 'अटूट' कहे जाने वाले सम्बन्ध को तोडता रहा। इसके विपरीत स्त्री को किसी भी भयकर-से-भयकर परिस्थिति में हमारा कानून पुर्नविवाह की आज्ञा नही देता रहा। इस एक-पक्षीय आदर्श-वादिता का परिणाम समाज के लिए अत्यन्त हानिकर हुआ। एक ओर पुरुष की इस स्वेच्छाचारिता से तथा दूसरी ओर स्त्री पर कठोर प्रति-बन्धो के लगाने से समाज का शान्त वातावरण विक्षुब्ध तथा दूषित हो उठा। इस सारी परिस्थिति मे विवाह-सम्बन्ध की पवित्रता की रक्षा के हेतु ही यह आवश्यक हो गया कि विवाह के कानून मे समयानुकूल परिवर्तन और सशोधन किये जाये। यह वह पृष्ठभूमि है जिसमे उपरोक्त 'विवाह-अधिनियम' सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक की व्यवस्था करता है।

तलाक-सम्बन्धी धारा इस 'अधिनियम' की सबसे अधिक विवादास्पद धारा है, किन्तु जितना भी विवाद है वह भ्रम के कारण है। यह समझा जाता है कि तलाक की छूट मिलते ही हर-कोई अपने जीवन-साथी को तलाक देने चल पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे विवाह की सस्था का नाश हो जायेगा, समाज में अव्यवस्था छा जायगी, धर्म का लोप हो जायेगा। किन्तु यह सब भ्रम है क्योकि इस अधिनियम के अनुसार किन्ही विशेष ही परिस्थितियो में और कठोर प्रतिबन्धो के अन्दर तलाक का अधिकार

दिया गया है। जिन अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में इस कानून के अनुसार सम्बन्ध-विच्छेद की व्यवस्था की गई है, वे निम्न हैं :—

(क) यदि पति-पत्नी दोनों में से कोई-एक व्यभिचारपूर्ण जीवन बिता रहा हो, तो उसे दूसरा तलाक दे सकता है।

(ख) दोनों में से एक यदि हिन्दू-धर्म छोडकर अन्य धर्मावलम्बी हो जाय, तो दूसरे को उससे संबंध-विच्छेद करने का अधिकार होगा।

(ग) यदि पति या पत्नी दोनों में से कोई-एक तलाक की अर्जी देने के समय पिछले तीन साल से असाध्य रूप से पागल रहा हो, तब भी दूसरे पक्ष को तलाक की आज्ञा मिल सकती है।

(घ) यदि पति या पत्नी में से कोई भयंकर और असाध्य कुष्ठ-रोग से अथवा सक्रामक यौन-रोग से पीड़ित हो, और लगातार तीन वर्ष तक इलाज कराने पर भी ठीक न हुआ हो, तो दूसरे पक्ष को तलाक का अधिकार होगा।

(ङ) यदि दोनों पक्षों में से कोई-एक सांसारिक जीवन छोड़कर वैरागी हो गया हो, तो दूसरे पक्ष को तलाक मागने का अधिकार होगा।

(च) दोनों पक्षो में से यदि कोई-एक सात साल तक लापता रहे, तो दूसरा पक्ष तलाक का प्रस्ताव कर सकेगा।

(छ) इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व यदि किसी पुरुष ने दूसरी शादी कर ली है, और उसकी पहली स्त्री जीवित है, तो पहली स्त्री को अधिकार होगा कि वह अपने पति को तलाक देकर अपने दुःखी जीवन से मुक्त हो जाये।

(ज) विवाह हो चुकने के तीन साल बाद ही तलाक के लिए आवेदन-पत्र दिया जायगा, इससे पूर्व नहीं। तलाक मिल जाने के भी एक साल बाद तक कोई पुनर्विवाह न कर सकेगा।

उक्त अवस्थाओ को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तलाक की जो शर्तें रखी गई हैं, वे काफ़ी कठोर हैं, और इनके रहते हुए सम्बन्ध-विच्छेद करना कोई हँसी-खेल नही होगा। स्त्री-पुरुष बहुत

विवशता की हालत में ही इस अधिकार का प्रयोग करेंगे क्योंकि जो लोग विवाह करते हैं वे एक-साथ रहकर सुखमय जीवन बिताने के विचार से ही इस बन्धन में बंधते है। विवाह की संस्था को तलाक से किसी प्रकार का खतरा नही है क्योंकि विवाह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित है, और इसलिए वह किन्ही बाह्य-साधनों से नष्ट नही हो सकता।

तलाक की प्रथा अपने देश के लिए बिलकुल नई चीज भी नही है। इस समय भी ७५ प्रतिशत जनता में यह प्रचलित है। यह बात दूसरी है कि इस समय यह अधिकतर वर्ण-रहित जातियो तक ही सीमित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों मे इस प्रथा का समावेश प्रथम बार इस अधिनियम द्वारा ही होगा। इस समय नीची जातियों के अन्दर तलाक भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रचलित है—कही 'छूट' की शकल में, और कहीं दूसरे किसी रूप में। वर्तमान कानून तलाक के भिन्न रूपों मे एकरूपता लायेगा, उन्हे एक दृढ़ सुव्यवस्था मे बांध देगा और जहाँ अब छोटी जातियो में मामूली-सी बातो पर तलाक हो जाता है, वैसा न होकर, ऊपर वर्णित की हुई कठोर अवस्थाओ मे छोटी तथा बडी जातियों में तलाक हो सकेगा।

सम्बन्ध-विच्छेद को कानूनी स्वीकृति मिल जाने का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर स्वास्थ्यकर पडेगा। अब स्त्री को व्यभिचारी, पागल, घृणित रोगो से पीड़ित पति के साथ इच्छा के विरुद्ध रहने को मजबूर न होना पडेगा। आत्म-निर्माण का मानवोचित अधिकार स्त्री को प्राप्त हो जाने पर उसके अन्दर मानवीय गुणो का विकास हो सकेगा। स्त्री और पुरुष के बीच विषमता की खाई को पाटने में भी यह अधिक सहायक सिद्ध होगा। अभी तक तराजू का एक पलडा ऊँचा और एक नीचा था, अब ये दोनों पलडे बराबर के स्तर पर आ जायेंगे, समाज मे विषमता का लोप होने से सुख तथा शान्ति का उदय होगा।

८. उत्तराधिकार अधिनियम–१९५६

'हिन्दुओं का उत्तराधिकार का कानून' (Hindu Succession Act, 1956) 'विवाह-कानून' से भी अधिक महत्वपूर्ण है। स्त्री 'विवाह-अधिनियम' द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं का लाभ आर्थिक-अधिकारों को प्राप्त करके ही उठा सकती है। 'उत्तराधिकार-अधिनियम' स्त्री को सम्पत्ति-सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण अधिकार देता है। अभी तक स्त्री को सम्पत्ति में किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। वह आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया पराधीन थी। जीवन के हर क्षेत्र में उसे अपने भरण-पोषण के लिए पुरुष का आश्रय लेना पड़ता था। "पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षित यौवने। पुत्राः रक्षन्ति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।"—अर्थात्, स्त्री को स्वतन्त्र नही रहना है, उसे सदा पिता, पति तथा पुत्र के अधीन ही रहना उचित है। इस शास्त्र-वाक्य पर ही हमारा अब तक का उत्तराधिकार कानून आधारित था। इस पराधीनता से स्त्री की परिवार तथा समाज में स्थिति बहुत नीचे गिर गई। उसका सामाजिक ही नहीं, नैतिक अधःपतन भी हुआ। अधःपतन के इस गर्त से स्त्री को निकालने का एक ही मुख्य उपाय था। वह उपाय यही था कि स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता मिले। यह 'उत्तराधिकार-कानून' सम्पत्ति सम्बन्धी इस आवश्यक अधिकार को स्त्री को प्रदान करके उसकी चहुँमुखी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसके अनुसार स्त्री को पुत्र, पत्नी तथा माता के रूप में सम्पत्ति-विषयक जो अधिकार मिले हैं, वे निम्न हैं:—

(क) **पत्नी के रूप में**—स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में अधिकार देने का पहिला कानून १९३७ में बना जिसके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र और पुत्रियों के साथ उसकी विधवा स्त्री को बराबर का हिस्सा मिलता था। किन्तु इस कानून के अनुसार विधवा का अपने हिस्से पर पूर्ण स्वत्व नही था। वह इस प्रकार प्राप्त की हुई अपनी जायदाद को अपनी इच्छानुसार नहीं बर्त सकती थी। दान में या

उपहार में उसे नहीं दे सकती थी, इस सम्पत्ति को बेचने का भी उसे अधिकार न था। अब यह 'उत्तराधिकार-कानून' विधवा स्त्री को अपनी जायदाद पर सीमित नही, पूर्ण अधिकार प्रदान करता है। अब वह जिस प्रकार चाहेगी अपने हिस्से की जायदाद का उपयोग कर सकेगी। सन्तान न होने की दशा में वह पूर्ण जायदाद की मालिक होगी। अगर वह पुनर्विवाह कर लेगी, तो वह सम्पत्ति, अगर पति से मिली थी, तो पति के परिवार को, और अगर पिता से मिली थी, तो पिता के परिवार को लौट जायेगी।

(ख) माता के रूप में—भारत के दक्षिण-पश्चिम भाग मे प्रचलित 'मरुमकटय्यम'-कानून को छोड़कर भारत की अन्य किसी भी दाय-प्रणाली के अनुसार माता का पुत्र की सम्पत्ति मे अब तक कोई भाग नही था। पुत्र की मृत्यु के बाद माता को अपनी पुत्र-वधू की दया पर आश्रित रहना पड़ता था। सास-बहू के सम्बन्ध थोड़े ही परिवारो मे स्नेहपूर्ण होते हैं। ऐसी परिस्थिति में उसका जीवन बहुधा दु:खमय बन जाता है। माता को पुत्र-वधू और पौत्र-पौत्रियो की दृष्टि मे एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने की दृष्टि से माता को भी पुत्र की सम्पत्ति में उसके पुत्र-पौत्रियों तथा पत्नी के समान एक भाग यह अधिनियम देता है।

(ग) पुत्री के रूप में—इस समय भारत मे मुख्यतया दो दाय-प्रणाली प्रचलित हैं। 'दाय-भाग' बंगाल में तथा पजाब के कुछ हिस्सो में चलता है, और भारत के शेष लगभग दो-तिहाई भाग मे 'मिताक्षरा' प्रणाली प्रचलित है। किन्तु इन दोनो में से किसी मे पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार नही माना जाता। हाँ, भारत के दक्षिण-पश्चिम तट पर ट्रावनकोर-कोचीन आदि मे जहाँ 'मरुमकटय्यम'-प्रणाली का कानून प्रचलित है, वहाँ पुत्री को पिता की सम्पत्ति मे पुत्र के बराबर ही हिस्सा मिलता है। देश के शेष भागो मे जहाँ 'दाय-भाग' तथा 'मिताक्षरा' प्रणाली प्रचलित हैं, अभी तक पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार कानून नहीं मानता। अब यह अधिनियम 'मिताक्षरा' तथा 'दाय-भाग'

प्रणाली के क्षेत्रों में भी पुत्री को पिता की 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित'—दोनों प्रकार की सम्पत्ति में हिस्सा देता है। पिता की 'स्वार्जित-सम्पत्ति' में तो लड़की को लड़के के बराबर हिस्सा मिलेगा, लेकिन 'पुश्तैनी-जायदाद' में लड़की को अपने पिता के हिस्से में से एक ही हिस्सा मिलेगा, कुल जायदाद में से नहीं। यह हिस्सा जो उसे 'पुश्तैनी-जायदाद' में अपने पिता के भाग में से मिलेगा, लड़के के बराबर ही होगा। फिर भी 'मिताक्षरा'-प्रणाली के अनुसार कुल मिलाकर 'पैतृक-सम्पत्ति' में लड़की को लड़के की अपेक्षा बहुत कम मिलेगा। हाँ, 'दायभाग'-प्रणाली में जहाँ 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' आयदाद का कोई भेद नहीं किया जाता, लड़की को लड़के के बराबर ही हिस्सा मिलेगा। परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि 'दाय-भाग' की प्रणाली मुश्किल से देश के एक-चौथाई हिस्से में प्रचलित है।

वर्तमान 'उत्तराधिकार-अधिनियम' के अनुसार 'मिताक्षरा' तथा 'दाय-भाग' प्रणाली के अन्तर्गत लड़की, लडके, विधवा-पत्नी तथा माता को किस प्रकार हिस्सा मिलेगा यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

(क) मिताक्षरा के अनुसार—मान लीजिए 'क' कुल २०,००० रु० की सम्पत्ति छोड़कर मरता है। इसमें १५,००० रु० की 'पैतृक'—पुश्तैनी—सम्पत्ति है, और ५,००० रु० उसकी अपनी कमाई या 'स्वार्जित'-सम्पत्ति है। उसके दो पुत्र 'ख' और 'ग' हैं, एक पुत्री 'च' है, जीवित विधवा पत्नी 'प' है, और जीवित माता 'म' है। अब मृत व्यक्ति 'क' की जो अपनी कमाई हुई 'स्वार्जित'-सम्पत्ति ५,००० रु० है, वह तो 'ख', 'ग', 'च', 'प' और 'म' पाँचों में बराबर बँट जायेगी, और दोनों लड़कों, लड़की, विधवा-पत्नी तथा माता—इन सबमें प्रत्येक को १,००० रु० मिल जाएगा, लेकिन मृत व्यक्ति 'क' की पैतृक'—पुश्तैनी—जायदाद में ऐसा नहीं होगा। १५,००० रु० की जो 'पुश्तैनी'-जायदाद है, वह पहले केवल दोनों लड़कों और पिता में बँटेगी—अर्थात् उसके तीन हिस्से होंगे क्योंकि अपने अलावा उसके दो पुत्र हैं। इस

९

प्रकार 'क', 'ख', 'ग' में से हर-एक को ५,००० रु० मिलेंगे। अब मृत 'क' के हिस्से जो ५,००० रु० पड़ा, उसमें से लड़की, उसकी विधवा-पत्नी और उसकी माता को हिस्सा मिलेगा, परन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि उसके दोनों लड़कों को, यदि वे पिता से अलग नहीं हो चुके हैं, तो पिता के इस ५,००० रु० में से दूसरों के बराबर का हिस्सा और मिलेगा। इस प्रकार इस 'पुश्तैनी' १५,००० रु० में से दोनों पुत्रों 'ख' और 'ग' को ६,००० रु०, पुत्री 'च' को १,००० रु०, जीवित विधवा-पत्नी 'प' को १,००० रु० तथा जीवित-माता 'म' को १,००० रु० मिलेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि यदि 'ख' या 'ग' में से कोई एक या दोनों पिता से अलग हो चुके हैं तो पृथक् हुए 'ख' या 'ग' को मृत-पिता 'क' के हिस्से मे से दुबारा कोई भाग न मिलेगा।

(ख) दायभाग के अनुसार—दायभाग में जहाँ 'पैतृक' और 'स्वार्जित' सम्पत्ति—दोनों में एक ही नियम लगता है, मृत-पिता 'क' की १५,००० रु० 'पुश्तैनी' तथा ५,००० रु० 'स्वार्जित' जायदाद को एक साथ मिलाकर 'ख', 'ग', 'च', 'प' तथा 'म' में बराबर-बराबर बाँट दिया जायेगा, अर्थात् दायभाग मे लड़के, लड़की, विधवा और माँ सबको बराबर-बराबर ४,००० रु० मिल जायेगा।

उपरोक्त उदाहरण से ज्ञात होगा कि मिताक्षरा के अन्तर्गत पुश्तैनी जायदाद में लड़की को लड़के से काफ़ी कम हिस्सा मिलता है। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा में लड़की के हिस्से पर कुछ और भी प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं जिनका आशय यह है कि पुश्तैनी जायदाद का अनावश्यक विभाजन न हो पाये। उदाहरणार्थ, लड़की अपनी ओर से जायदाद के अपने हिस्से का प्रश्न नहीं उठा सकती, लड़के जायदाद का बँटवारा करेंगे तभी उसको अपना हिस्सा अलग मिल सकेगा। वह मकान का अपना हिस्सा किराये पर नहीं उठा सकेगी, उसे बेच नहीं सकेगी, सिर्फ़ उसमें स्वयं रह भर सकेगी। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि पुत्री को पैतृक-सम्पत्ति में जो अधिकार मिला है, वह केवल उस

सम्पत्ति में मिला है जिसको उसका पिता बिना वसीयत किये छोड़ जायगा। पिता वसीयत द्वारा पुत्री को कुछ भी हिस्सा न दे—यह भी उसे अधिकार है। पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए हैं, उनका मुख्य अभिप्राय संयुक्त-परिवार-प्रथा की रक्षा करना है। परन्तु मिताक्षरा-परिवार रूपी भवन में आज जगह-जगह तरेड़ आ चुकी है। उसे अब बचाया नहीं जा सकता। आज से सौ साल पहले जो आर्थिक और सामाजिक अवस्थाएं थीं, वे आज बदल चुकी हैं। १०० साल पहले 'परिवार' समाज की इकाई था, आज 'परिवार' नहीं, 'व्यक्ति' समाज की इकाई है। आज यदि कोई भी प्रथा 'व्यक्ति' के विकास को रोकती है, तो उस प्रथा को 'व्यक्ति' के हित की रक्षा के लिए खतम कर देना होगा। आज की हमारी परिस्थितियों में 'मिताक्षरा'-प्रणाली, जो स्त्री-पुरुष के भेद पर खड़ी है, मेल नहीं खाती। इसी कारण अधिकांश विधान-निर्माताओं के विचार से दाय-भाग-प्रणाली ही अपने देश के लिये अधिक उपयुक्त है। इसीलिए हिन्दू-कोड-बिल जब प्रथम बार संविधान-सभा में पेश हुआ था, तो उसमें मिताक्षरा को समाप्त ही कर दिया गया था, और समस्त देश में दाय-भाग-प्रणाली प्रचलित कर देने की सिफारिश की गई थी। दुर्भाग्य से यह बात स्वीकृत न हो सकी। हमें आशा है कि शीघ्र ही हमारे विधान-निर्माता इस अधिनियम में या दूसरा कोई और विधेयक लाकर 'मिताक्षरा'-प्रणाली को समाप्त कर देंगे और स्त्री तथा पुरुष के उत्तराधिकार सम्बन्धी इस भेद को मिटाने का प्रयत्न करेंगे।

'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' एवं 'उत्तराधिकार अधिनियम' का मुख्य उद्देश्य स्त्री को सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार देकर उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था को समुन्नत करना है। यद्यपि इस समय स्त्री को राजनीतिक क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त हो चुके हैं, तथापि जब तक उसे सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी पुरुष के समान

अधिकार नही मिल जाते तब तक वह पूर्ण रूप से विकास तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकती। और, जब तक स्त्रियों के रूप में देश की आधी जनता पिछडी और पराधीन रहती है तब तक हमारे नेताओं का समाजवादी-समाज को स्थापित करने का स्वप्न मूर्त-रूप नहीं ले सकता। इसी भूमिका में 'विवाह' तथा 'उत्तराधिकार' के अधिनियमों का असली महत्व है, क्योंकि ये इस समय तक पिछडी हुई, अत्याचारों से पीडित तथा अधिकार-शून्य स्त्री को शक्ति-सम्पन्न बनाने की दिशा में एक बडा ठोस कदम उठाते हैं। विवाह-कानून से स्त्रियो के पारिवारिक जीवन में एक सुरक्षितता की भावना आयेगी, और साथ ही स्त्रियो को भी विशेष अवस्थाओं में सम्बन्ध-विच्छेद की सुविधा मिल जाने से वे भी पुरुषो के समान स्तर पर आ खडी होगी। वैवाहिक-जीवन की सफलता जीवन-क्षेत्र में दोनो के सम-कक्ष होकर प्रवेश करने में है। विवाह-कानून स्त्री को जो स्वतन्त्रता सामाजिक-क्षेत्र में प्रदान करता है, वही स्वतन्त्रता उत्तराधिकार-कानून स्त्री को आर्थिक-क्षेत्र में देता है। आज हजारों सालो के बाद इस कानून के द्वारा प्रथम बार स्त्री के सम्पत्ति-सम्बंधी अधिकारो को मान्यता मिली है। इन अधिकारो को प्राप्त करने के साथ भारत की नारी, इतिहास के एक सुनहरे युग में प्रवेश कर रही है। इन अधिकारो के सीमित रहते हुए भी इन्हें "भारतीय नारी के अधिकारों का घोषणा-पत्र" (Charter of the Rights of Indian Women) कहा जा सकता है।

'उत्तराधिकार-अधिनियम' के परिणामस्वरूप स्त्री के आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो जाने का अवश्यंभावी नतीजा यह होगा कि आजीविका के लिये विवाह ही उसका एक मात्र अवलंबन नहीं रहेगा। आज तो विवाह स्त्री के लिए आर्थिक-समस्या का एकमात्र हल है—इस कानून के बन जाने से यह स्थिति बदल जायेगी।

६. मुसलमानों में विवाह-विच्छेद

हमने अभी तक उन्हीं सामाजिक-विधानों का वर्णन किया है जिनका हिन्दू-समाज में विवाह पर प्रभाव पड़ता है। विवाह के सम्बन्ध में मुसलमानों की क्या स्थिति है? यह हम पहले ही कह आये हैं कि मुसलमानों के यहाँ विवाह मुख्यत: एक 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) न होकर पति-पत्नी का एक समझौता, एक 'ठेका' (Contract) है। समझौते या ठेके में दोनो पक्ष कुछ लेते हैं, कुछ देते हैं। स्त्री तो अपने माँ-बाप का घर छोड़ कर पति को अपने-आप को दे देती है, पति उसे 'महर', 'भेंट' या 'दहेज़' देता है। 'धार्मिक-संस्कार' का आधार तो धर्म है, और धर्म नित्य है, इसलिये उस पर चलने वाला विवाह टूट नहीं सकता, परन्तु ठेका तो किन्ही शर्तों पर आधारित होता है, वे शर्तें टूट जायँ, तो ठेका टूट जाता है, इसलिये मुसलमानों में किन्ही खास-खास अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद हो जाता है। वे अवस्थाएँ क्या हैं?

मुसलमानों में विवाह-विच्छेद ज्यादातर पति के हाथ में है, परन्तु किन्ही-किन्हीं अवस्थाओं में पत्नी को भी इसका अधिकार प्राप्त है। विवाह-विच्छेद की अवस्थाएँ निम्न हैं :—

(क) तलाक—पति जब चाहे पत्नी को तलाक दे सकता है। तलाक देने के समय पत्नी या किसी गवाह का उपस्थित होना आवश्यक नहीं है। अगर पति तीन बार एकदम तलाक-तलाक-तलाक कह दे, तो तत्काल विवाह-विच्छेद हो जाता है; अगर सिर्फ़ एक या दो बार कहे, तो तलाक को क्रियात्मक रूप धारण करने के लिये पत्नी को तीन महीने प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यह प्रतीक्षा-काल 'इद्दत' कहलाता है। 'इद्दत' के बाद तलाक पूरा हो जाता है।

(ख) इला—यदि पति चार महीने तक यौन-सम्बन्ध न करने की शपथ खा ले और उस पर चार महीने तक अटल रहे तो तलाक हो जाता है।

(ग) ज़िहर—अगर पति अपनी स्त्री की तुलना अपनी बहन या ऐसी स्त्री से कर दे जिसके साथ इस्लामी कानून के अनुसार विवाह निषिद्ध है, तो उसे प्रायश्चित करना चाहिए। अगर अपनी पत्नी के कहने पर कि वह प्रायश्चित करे वह ऐसा नहीं करता तो तलाक हो जाता है।

(घ) खुला—वैसे तो विवाह के साथ 'महर' (भेंट) पति देता है, कभी-कभी 'महर' का कुछ हिस्सा रोक रखता है जिसे 'स्थगित-महर' कहते हैं, और अगर कभी वह पत्नी को तलाक दे तो यह 'स्थगित-महर' उसे पत्नी को देनी पड़ती है। परन्तु कभी-कभी पत्नी को पति से इतनी घृणा हो जाती है कि वह उसके साथ नहीं रहना चाहती, उसे छोड़ देना चाहती है। ऐसी अवस्था में अगर पति भी विवाह-विच्छेद के लिये तैयार हो जाय, तो उसे 'खुला' कहते हैं। इसमें पति पत्नी को 'महर' नही देता, परन्तु पत्नी पति को कुछ हरजाना देती है। अक्सर वह 'स्थगित-महर' के अपने अधिकार को छोड देती है। अगर पत्नी ऐसी अवस्था में पति को 'हरजाना' न दे, तो पत्नी पर मुकदमा दायर हो सकता है। इस तलाक में पहल पत्नी की तरफ़ से होती है।

(ङ) मुबारत—इसमें दोनो की सहमति से विवाह-विच्छेद हो जाता है, 'खुला' की तरह पत्नी की तरफ़ से या तलाक की तरह पति की तरफ़ से पहल नही होती। दोनों साथ-साथ नहीं रहना चाहते, अलग-अलग हो जाते हैं।

(च) तलाके तफ़्वीज़—अगर विवाह के समय पति अपनी पत्नी को यह अधिकार दे दे कि वह अमुक अवधि तक अपनी इच्छानुसार विवाह-विच्छेद कर सकती है, तो पत्नी उस अवधि के भीतर विवाह-

विच्छेद कर सकती है। ऐसी अवस्था में यह विवाह-विच्छेद पत्नी द्वारा किया गया न माना जाकर पति द्वारा किया गया माना जायगा और तलाक के समय 'महर' आदि का कोई झगड़ा न किया जा सकेगा।

१०. मुस्लिम विवाह-विच्छेद-अधिनियम—१९३९ (Dissolution of Muslim Marriages Act, 1939)

ऊपर तलाक के सम्बन्ध में जिन अधिकारों का वर्णन किया गया है, वे प्राय: सब पुरुष के अधिकार हैं। उनमें से तो कई बे-सिर-पैर के, असाधारण अधिकार हैं। उदाहरणार्थ, तीन बार तलाक-तलाक-तलाक कह देने से एकदम स्त्री की स्थिति असुरक्षित हो जाती है। इस सब स्थिति को देखकर १९३९ में 'मुस्लिम-विवाह-विच्छेद-अधिनियम' बना जिसमें पत्नी के दृष्टिकोण से कुछ नियम बनाये गये जिनके आधार पर पत्नी भी तलाक करने की अधिकारिणी बना दी गई। वे नियम क्या हैं? पत्नी अपने पति का त्याग कर सकती है :—

(क) अगर चार साल तक पति का कुछ पता न चले,

(ख) अगर दो वर्ष तक पति अपनी पत्नी की भरण-पोषण की व्यवस्था न कर सके,

(ग) अगर उसे आजीवन या अधिक वर्षों तक जेल की सजा मिले,

(घ) अगर तीन वर्ष तक वह अपने वैवाहिक-कर्तव्य पूरा न करे,

(ङ) अगर विवाह के समय से ही वह नपुंसक सिद्ध हो जाय,

(च) अगर दो वर्ष से वह पागल हो,

(छ) अगर वह कोढ़ या यौन-रोग (सिफ़लिस, गनोरिया आदि) से पीड़ित हो,

(ज) अगर उसका विवाह १५ वर्ष की आयु से पहले कर दिया गया हो, और इस बीच उसका पति से यौन-सम्बन्ध न हुआ हो, तो १८ वर्ष की आयु से पहले वह विवाह से इन्कार कर सकती है,

(झ) अगर पति क्रूर हो, दुराचारी-व्यभिचारी हो, पत्नी को व्यभिचार के लिये मजबूर करता हो,

(ञ) अगर वह पत्नी की सम्पत्ति को उसकी आज्ञा के बिना बेचता हो, उसे अपनी सम्पत्ति का उपभोग न करने देता हो,

(ट) अगर वह पत्नी को धार्मिक-कृत्य न करने देता हो,

(ठ) अगर अन्य पत्नियो की तुलना मे उसके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करता हो,

(ड) अगर वह पत्नी पर व्यभिचार का दोष लगाये और वह दोष सिद्ध न हो सके।

११. पारसियों में विवाह-विच्छेद

पारसियो में भी विवाह एक 'धार्मिक-सस्कार' न होकर 'ठेका' माना जाता है। इनके विवाह तथा विवाह-विच्छेद सम्बन्धी नियम १८६५ से पहले उसी समाज के चलते थे जहाँ कोई पारसी रहता था, परन्तु १८६५ मे 'पारसी विवाह तथा तलाक अधिनियम' बना जिसका आधार बहुत-कुछ अंग्रेजी-कानून (English law) था। इस कानून के बनने के बाद बिना तलाक लिये, अपनी पहली स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से विवाह करना बहु-विवाह माना गया और जैसे 'अंग्रेजी-कानून' में बहु-विवाह अपराध है, वैसे पारसियो मे भी बहु-विवाह दडनीय घोषित किया गया।

इस कानून के अनुसार पति-पत्नी दोनों को एक-दूसरे के व्यभिचारी सिद्ध होने पर तलाक मिल जाता है। अगर पति किसी वेश्या से सहवास करता है तो उसे तलाक की दृष्टि से व्यभिचारी नही कहा जाता। अगर वह एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है तभी स्त्री तलाक की अधिकारिणी है। अगर वह क्रूर है, दो साल से पत्नी को छोड़े हुए है, यौन अपराध करता है, तब भी स्त्री तलाक प्राप्त कर

सकती है। क्रूरता का अर्थ स्वभाव का तेज होना, गाली-गलौज करना आदि नहीं, परन्तु क्रूरता, कानूनी अर्थों में क्रूरता होनी चाहिए। कानूनी अर्थों में क्रूरता क्या है? कानूनी अर्थों में क्रूरता का अर्थ है ऐसी मार-पीट करना जिससे जीवन को खतरा हो, किसी अंग को क्षति पहुँचे, स्वास्थ्य के इतना गिर जाने की सम्भावना हो जो जीवन के लिए भयप्रद है। इन अर्थों में मानसिक-क्रूरता को क्रूरता की श्रेणी में नहीं गिना गया। अब पारसियों के उक्त कानून में कुछ और सुधार हुए हैं जिनके अनुसार (१) अगर पति-पत्नी मे से कोई दूसरे को यौन-रोगों से जान-बूझकर दूषित करता है, (२) या दोनों में से कोई सात साल या अधिक समय के लिए जेल में चला गया है, (३) या दोनों में से कोई तीन साल तक दूसरे को छोड़े रखता है, तो वह विवाह-विच्छेद का अधिकारी है।

१२. ईसाइयों में विवाह-विच्छेद

१८६९ में 'भारतीय विवाह-विच्छेद-अधिनियम' (Indian Divorce Act, 1869) बना जो ईसाइयो पर लागू होता है। इस कानून के अनुसार अगर यह सिद्ध हो जाय कि पति ने ऐसी स्त्री से यौन-सम्बंध किया है जिसके साथ कानून के अनुसार विवाह वर्जित है, या उसने एक स्त्री से अधिक से शादी की है, व्यभिचारी है, सम-लिंगी या पशु-व्यभिचार करता है, उसने अपने धर्म का परित्याग करके किसी अन्य स्त्री से विवाह कर लिया है, तो पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा ईसाई लोगों में जो सामाजिक-विधान बन रहे हैं उनका उनकी विवाह-सम्बन्धी धारणा पर क्या-क्या प्रभाव पड़ रहा है। अधिकतरइन सुधारों की दिशा विवाह को 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) मानने के स्थान में एक 'ठेका' (Contract) मानने की तरफ जा रही है।

प्रश्न

१. निम्न सामाजिक-अधिनियमों के बारे में आप क्या जानते हैं—(क) सती-प्रथा-कानून, (ख) विधवा-विवाह-कानून, (ग) विशेष-विवाह-कानून १९५४, (घ) शारदा-कानून, (ङ) आर्य-विवाह-कानून।

२. 'हिन्दू विवाह तथा तलाक-अधिनियम—१९५५' के विषय में आप क्या जानते हैं? इस कानून के अनुसार किन-किन अवस्थाओं में तलाक दिया जा सकता है? इस कानून का विवाह की प्रथा पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

३. 'उत्तराधिकार अधिनियम—१९५६' के अनुसार माता, पत्नी तथा लड़की की स्थिति में क्या परिवर्तन किया गया है? इस परिवर्तन का सामाजिक तथा आर्थिक प्रभाव क्या पड़ेगा? विवाह की प्रथा पर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है?

४. मुसलमानों, पारसियों तथा ईसाइयों में तलाक के सम्बन्ध में क्या कानून हैं और उनमें तलाक की दृष्टि से स्त्री की क्या स्थिति है?

६

ग्राम-संगठन

(VILLAGE COMMUNITY)

ग्राम्य-जीवन की कुछ बातें ऐसी हैं जो पूर्व-पश्चिम—सब जगह के गाँवों में एक-सी हैं, सामान्य हैं। ऐसी एक-सी बातें कौन-कौन-सी हैं ?

१. ग्राम्य-जीवन के सामान्य-गुण

(क) **प्राकृतिक-जीवन**—सब जगह के गाँवों की पहली विशेषता जो सब में सामान्य तौर पर पाई जाती है उनका प्रकृति के निकट होना है। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को जब कैनवास पर चित्र में उतारा जाता है, तब उसका सैकड़ों रुपया दाम देने को लोग तैयार हो जाते हैं, फिर जीती-जागती प्रकृति में रहने का तो कुछ भी दाम चुकाया नहीं जा सकता। गाँव के प्रकृति-दृश्यों में झोंपड़ों को भी पुष्प-लताओं से ऐसे सजाकर रखा जा सकता है कि महलों को भी वैसा न रखा जा सके। करोड़पति को भी शहर में उतनी विस्तृत खुली जगह नहीं मिल सकती जितनी एक ग़रीब किसान को अपने टूटे-फूटे झोंपड़े के लिए गाँव में मिल जाती है। अगर मनुष्य चाहे तो गाँव में प्रकृति के वरदान से घर को स्वर्ग बना सकता है, परन्तु गाँव के लोग जैसे रहते हैं, उससे तो उन्होंने अपने हाथ से स्वर्ग को नरक बनाया होता है।

ग्रामीण-व्यक्ति, ग्रामीण परिस्थिति में रहता है। वह मुख्य तौर पर खेती करेगा—जो-कुछ भी करेगा उसका स्थान प्रकृति के बीच में है, वह हर समय प्रकृति के निकट है। सर्दी, गर्मी, वर्षा—हर समय का वह उस-उस मौसम में अनुभव करता है। उसे मालूम है, अब कौन-सी ऋतु आ रही है क्योंकि उस ऋतु का उस ऋतु के अनाज के पैदा करने के साथ विशेष सम्बन्ध है। वह सूर्य की रश्मियों को फूटता देखकर उठता है, अँधेरा होने पर सो जाता है, रात को जाग खुले तो तारों को देखकर बता देता है कि कितनी रात बाकी है। वह चाहे स्वतन्त्र खेती करता हो, या किसी दूसरे का खेत जोतता हो, उसे हर समय तैनात नहीं रहना होता, प्रकृति के वर्षा-गर्मी-सर्दी के भिन्न-भिन्न समय उसके कार्य की प्रणाली को बाँधते हैं। जब बोने-काटने का समय नहीं है, तब उसे खेत मे यूँ ही धक्के खाने की ज़रूरत नही। इस दृष्टि से उसके पास समय बहुत है और अपने समय का वह मालिक है।

(ख) ग्रामीण-संस्कृति—ग्रामीण-सस्कृति की अपनी कई विशेषताएँ होती हैं। प्रकृति के निकट होने के कारण ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत—सबका उदय प्रकृति के अथाह सागर से होता है। ग्रामीण-सस्कृति मे कृत्रिमता नही होती, ग्रामीण लोग अपने स्वाभाविक जीवन को अपनी सस्कृति में उँडेल देते हैं। ग्राम-वासी का पहनावा, उसका चेहरा-मोहरा—सब प्रकृति के निकटतम होने के कारण स्वाभाविक होता है। मनुष्य के मनुष्य के साथ व्यवहार में भी ग्राम-वासी की सस्कृति की अपनी विशेषता है। गाँव का रहने वाला मनुष्य के निकटतम सम्पर्क में रहता है। परिचित व्यक्तियों का ग्राम में समूह होता है, इस-लिए गाँव के एक-एक व्यक्ति को वह जानता है, और इसीलिए मानवीयता की भावना उसमे ओत-प्रोत रहती है। शहर का आदमी भूखे को देख कर पास से निकल जायगा, गाँव का आदमी भूखे को रोटी देगा; शहर का आदमी मेहमान को नफ़रत से देखेगा, गाँव का आदमी मेहमान को

प्रेम से देखेगा; शहर का आदमी निरा स्वार्थी होगा, गाँव का आदमी स्वार्थी नहीं होगा—ये ग्रामीण-संस्कृति की विशेषताएँ हैं।

(ग) **परिवार की प्रधानता**—गाँव की परिस्थिति में जीवन-रूपी वृत्त का केन्द्र घर तथा परिवार होता है। ग्रामीण-जीवन में मनुष्य चारों तरफ़ से संसार से तो कटा रहता है, परन्तु अपने परिवार से अभिन्न तौर पर बँधा रहता है। सबका साथ-साथ खेती करना पारिवारिक-बंधनों को और अधिक दृढ़ बना देता है। परिवार की प्रथाएँ तथा पुरानी परम्पराएँ व्यक्ति के जीवन को कसे रहती हैं। ग्रामीण-जीवन में क्योंकि परिवार मुख्य होता है, व्यक्ति नहीं, इसलिए इस जीवन में बुजुर्गों का शासन होता है—यह एक प्रकार की 'पितृ-प्रधान-व्यवस्था' है। परिवार के सब सदस्यों पर बड़ों-बूढ़ों की हुकूमत चलती है, परिवार की सत्ता में व्यक्ति की सत्ता विलीन हो जाती है। परिवार का जितना ऊँचा स्थान है, व्यक्ति का भी उतना ऊँचा स्थान अपने-आप बन जाता है। ऊँचे खानदान का व्यक्ति अपने खानदान की वजह से ऊँचा माना जाता है। शहर में कर्म तथा गाँव में जन्म प्रधान होता है। शहर का आदमी परिवार से उखड़ सकता है, गाँव के आदमी की नस-नस परिवार में ओत-प्रोत होती है।

(घ) **संयुक्त-परिवार-प्रथा**—ग्रामीण-जीवन परिवार-प्रधान होने के कारण 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' के लिए ज्यादा उपयुक्त है। गांवों में परिवार के सब लोग साथ-साथ रहते हैं। एक चूल्हे पर उनका खाना बनता है, अगर परिवार का कोई सदस्य नहीं भी कमाता तो उसे घर से निकाल नहीं दिया जाता। एक तरह से 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' प्राचीन समय की सुरक्षा-पद्धति (Security system) का एक रूप है। सम्पत्ति परिवार के किसी विशेष व्यक्ति की नहीं, परिवार की साझी समझी जाती है। परिवार में किसी लड़के-लड़की की शादी होती है, तो उसका खर्च किसी एक पर न पड़कर सारे परिवार

पर पड़ता है। आज का शहरों का युग व्यक्तिवाद का युग है, हर-एक अपने-अपने लिए है, परन्तु ग्रामीण-जीवन में यह स्वार्थ-वृत्ति दिखाई नहीं देती।

(ङ) बिरादरी का प्रभाव—गाँव का व्यक्ति क्योंकि परिवार के साथ बँधा हुआ होता है, इसलिए उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप धारण नहीं करता। वह 'मैं' की भावना में न सोचकर 'हम' की भावना में सोचता है। उसका धर्म-धंधा, उसके आचार-विचार—सब बातों का नियन्त्रण बिरादरी के दृष्टिकोण से होता है, वह स्वय नहीं सोचता, बिरादरी उसके लिए सोचती है। बिरादरी के निर्णय के सामने सिर झुकाना उसके लिए स्वय-सिद्ध है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध भी ग्रामीण-जीवन में बिरादरी के दृष्टिकोण से होते हैं। गाँव का वासी बिरादरी-प्रधान जीवन व्यतीत करता है।

(च) परम्परा, प्रथा तथा रूढ़ि का प्रभाव—शहर के व्यक्ति पर कानून का प्रभाव होता है, ग्रामीण व्यक्ति पर परम्परा का प्रभाव होता है, परम्परा के सामने वह कानून को तुच्छ समझता है। जो बात बाप-दादों के समय से चली आ रही है, जो पुरखाओं की परम्परा है, वह उसके लिए जीने-मरने का सवाल बन जाती है। ठीक भी है। ग्रामीण व्यक्ति, उसके जो-कुछ नजदीक है, उससे अपने को अभिन्न समझने लगता है। परिवार, गाँव और इन दोनों की परम्परा—यही तो उसके निकटतम की वस्तुएँ हैं, इसलिए अपने परिवार, अपने गाँव की परम्परा का टूट जाना वह अपनी नाक कट जाने के समान समझता है। वह अपने विचारों का इतना पक्का होता है कि कोई उसे अपने विचारों की नींव से हिला नही सकता। गाँव-वासियों के विचार उसके विचार होते हैं, और जो उन विचारों का विरोध करता है सारा गाँव उसका दुश्मन हो जाता है। परम्परा का दास होने के कारण ग्राम-वासियों में असहिष्णुता अधिक होती है। दुनिया मे कितनी रोशनी क्यो न फैल जाय, गाँव

में उस रोशनी का असर नहीं होता, होता भी है तो धीरे-धीरे और मद्धम तौर पर।

(छ) पड़ोसीपन की भावना—गाँव वाले जानते हैं कि पड़ोसी किसे कहते हैं। शहर में रहने वाला ऐसे व्यक्तियों से घिरा होता है जिन्हें वह जानता भी नहीं होता। गाँव में ऐसी बात नही हो सकती। गाँव का हर आदमी हर-एक गाँव-वासी को जानता है। इससे किसी की कमज़ोरी दूसरे से छिपी नही रहती। इसका लाभ भी है। लोकापवाद के भय से लोग बुरे काम से बचे रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सारे गाँव से निकट-तम सम्बन्ध होता है, इसलिए सुख-दुःख में सब एक-दूसरे का साथ देते हैं। इसके विपरीत शहर का कोई व्यक्ति इकला पडा अपने दुःख में मर भी जाय, तो उसे पूछने वाला कोई नही होता। गाँव में दुश्मनी होती है तो वह भी जबरदस्त, पुश्तैनी चलती है, दोस्ती होती है तो उसका भी कोई ठिकाना नही। गाँव में मनुष्य एक छोटे-से समूह का हिस्सा होता है जिसमे सब सबको जानते हैं, इसलिए उच्च-कोटि के सब गुणों को प्रकट करने को हर-एक की इच्छा बनी रहती है, हर-एक यह चाहता है कि वह ऐसा काम करे जिससे सारा गाँव उसकी तारीफ़ करे।

२. भारत में गाँवों का महत्व

भारतवर्ष ग्राम-प्रधान देश है। १९५१ में यहाँ ३०१८ शहर[1] थे, ५,५८,८०९ गाँव, और गाँवों तथा शहरों की आबादी का पारस्परिक अनुपात इस प्रकार था :—

---

1. India 1956—भारत सरकार द्वारा प्रकाशित

सन्	सारी आबादी के अनुपात में	
	गाँवों की आबादी	शहरों की आबादी
१९२१	८८.७	११.३
१९३१	८७.९	१२.१
१९४१	८६ १	१३.९
१९५१	८२ ७	१७.३

हमारे देश में ३५ ७ करोड़ की आबादी मे ६.२ करोड़ अर्थात् १७'३ प्रतिशत शहरों में रहते हैं, बाकी २९.५ करोड अर्थात् ८२'७ प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में रहते हैं। जिस देश मे पाँच हिस्सों में से चार हिस्सा आबादी गाँवो में रहती हो उसमें गाँवों का महत्व अपने-आप बढ जाता है। इगलैण्ड में पाँच हिस्सों मे एक हिस्सा आबादी गाँवों में और चार हिस्सा शहरो में रहती है, जो भारत से ठीक उल्टा है। वहां गाँवो का वह महत्व नही जो इस देश में है।

संख्या के अतिरिक्त गाँवों का एक और भी महत्व है। गाँव तथा शहर के कुटुम्बों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालो का कहना है कि अगर एक ही स्तर का जीवन बिताने वाले गाँव तथा शहरों के कुटुम्बों का अध्ययन किया जाय, तो पता चलेगा कि शहर के बसे हुए ऐसे कुटुम्ब जिनका जीवन का स्तर अपने जैसे गाँव वाले कुटुम्ब का-सा हो कुछ पीढ़ियों के बाद नष्ट हो जाते हैं, परन्तु उसी स्तर का जीवन बिताने वाले गाँव में बसे हुए कुटुम्ब पीढ़ी-दर-पीढी बने रहते हैं। इसका मतलब यह है कि अगर गाँवो से लगातार शहरो में आवागमन न होता रहे, तो शहरों का जीवन ही कठिन हो जाय। शहरो के लिए गाँव एक प्रकार की जीवन की वह धारा है जिसके प्रवाह के ऊपर ही शहर का जीवन अवलम्बित है। इस दृष्टि से गाँवो का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। गाँवो में मानव-शक्ति ही नही, प्राण-शक्ति भी है।

३. भारत में गाँव की रचना और संगठन

(क) **गाँव वालों का मोटा खाका**—भारत की भौगोलिक रचना में गाँव उसकी इकाई है। गाँव को मौजा भी कहते हैं। इंगलैण्ड में भारत के गाँव की तरह वहाँ 'पैरिश' होता है। गाँव की सीमाएँ बँधी हुई हैं, और एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी निकल जाती है, इनमें हेर-फेर नही होता। साधारणतः एक गाँव में १०० से १५० एकड भूमि होती है, परन्तु कही-कहीं ज्यादा भी पायी जाती है, १०००-१५०० एकड तक एक-एक मौजे में ज़मीन हो सकती है।

भारत के गाँवो में साधारण-से मिट्टी के झोंपडे दिखाई देते हैं, फूस की उनके ऊपर छत होती है, कही-कहीं मिट्टी की छत भी डाल दी जाती है। किसी घर मे एक, किसी मे दो कमरे बने होते हैं—पीछे की तरफ एक सेहन जिसमे गाय, भैंस, बैल बँधे रहते हैं। कोने में एक चूल्हा जिसके धूएँ से सारा घर भर जाता है, और पास बडी सफाई से मँजे पीतल के बर्तन तरतीब से लगे होते हैं। आँगन गोबर से लिपा होता है—साफ-सुथरा, परन्तु गली मे या तो नालियों के पानी से कीचड़ भरा होता है या कूडा-कर्कट घर से बाहर बुहार कर फेंक दिया जाता है। गाँव में टट्टियाँ नही होतीं, प्राय: सभी खेतों में जाते हैं, या बालक कोठों की छतो पर टट्टी फिर आते हैं। गन्दगी और कीचड से मच्छरों और मक्खियो के मारे नाक में दम रहता है। जो भी रोग न घेरे—वही थोडा है।

खेती के लिए बरसात पर ही निर्भर रहना पडता है, नहरों का इतना प्रबन्ध नहीं, इसलिए, किसान के छ. महीने बेकारी में गुज़रते हैं। जिनके पास खेती के लिए जमीन नही, जो खेतो में मजदूरी करके गुज़र करते हैं, उनके तो आठ महीने बेकारी में गुजर जाते हैं। ऐसे सब लोग गलियों में ताश लिए खेला करते हैं, या दोपहर को चद्दर तान कर सोया करते हैं, सर्दियो में चौपाल में बैठकर सब लोग गप्पें उडाते हैं, आग

जल रही है, चारो तरफ़ घेरा लगाकर सब बैठे हैं, हुक्का सामने धरा है—इस प्रकार की जिन्दगी हमारे ग्रामीण भाई सदियो से बिताते चले आ रहे हैं ।

ग्राम-वासी अधिकांश शाकाहारी होते हैं । जिस जगह जो अन्न होता है वहाँ उसी को खाते हैं । देहरादून मे चावल और लुधियाना में गेहूँ । जिस मौसम मे जो अन्न उपजता है उस मौसम में उसी अन्न का इस्तेमाल करते हैं—बाजरे की मौसम मे बाजरा और मक्का की मौसम मे मक्का । पहले तो गाँव का रहने वाला हर-एक खूब दूध पीता था, घी खाता था, परन्तु अब तो गाँव वालो को भी चाय का चस्का लग गया है, कटोरे भर-भर कर चाय पीते हैं, दूध-घी का गाँवो मे से भी नामो-निशान मिटता जा रहा है । नतीजा यह है कि हमारे गाँव वालो के जो भरे हुए चेहरे और उभरी हुई छाती दिखाई दिया करती थी, वह लुप्तप्राय होती जा रही है । सुकड़े हुए चेहरे और चमकती हुई नोकीली हड्डिया शहरो में ही नही, गाँवों मे भी चारो तरफ़ दिखाई देने लगी हैं ।

(ख) गाँव का संगठन—हमारे यहाँ गाँवों मे जो सगठन रहा है उसे एक छोटी-सी रिपब्लिक कहा जा सकता है । अग्रेजी-शासन-काल में इस संगठन को कायम नही रहने दिया गया, परन्तु उस समय के जो रजवाड़े थे उनमें इस सगठन का शुद्ध-रूप दिखाई देता था । रजवाड़े की तरफ़ से जो सूचनाएँ आती थी वे गाँव के पच या पटेल के नाम भेजी जाती थी । पच का अभिप्राय है गाँव के चुने हुए पाँच या न्यूनाधिक व्यक्ति । गुजरात आदि मे गाँव का मुखिया पटेल कहलाता है । पटेल का काम भी गाँव के संबंध मे जरूरी काम-काज करना है । गाँव के सामूहिक कार्य पच या पटेल की आज्ञानुसार चलते हैं । गाँव के नाई, धोबी, बढ़ई, लोहार—ये सब किसी एक का काम नही करते, सारे गाँव का काम करते हैं । शादी-ब्याह का मौका हो, तो इन सब से काम लिया जाता है । इनको साल की दोनो फ़सलों में दो बार सब लोगो की तरफ़ से

अनाज दिया जाता है। कुछ लोग गाँव में ऐसे भी होते हैं जिनसे हर प्रकार का काम लिया जाता है। चमार लकड़ी भी ला देंगे, मरे जानवरो को भी उठा ले जायेंगे, सब-कुछ करेंगे। गाँव का सगठन कुछ ऐसे ढंग का बना हुआ है कि वह अपने में पूर्ण है, उसे बाहर से किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती।

पंच और पटेल गाँव के झगडों को गाँव मे ही निपटा देने की कोशिश करते हैं। उनकी कोशिश यह रहती है कि जहाँ तक हो सके मामला अदालत में न जाय। गाँव का सगठन इतना जबर्दस्त है कि अगर सरकार भी किसी प्रथा या गाँववालो के किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक अधिकार में हस्तक्षेप करना चाहे, तो वह पंचो को अपने साथ में लिये बगैर आगे नही बढ़ सकती। जब पंचो की आवाज़ उठती है तो वह सारे गाँव की आवाज़ होती है—अन्दर वाले भी पंचों की बात को नही मोड़ सकते, बाहर वालो को भी पंचों की आवाज़ को सुनना पडता है। गाँवो में पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं होता इसलिए पच ही अपराधी के पकड़े जाने पर ऐसी सजा देते हैं कि किसी मे दुबारा अपराध करने का साहस नही होता। जहाँ-जहाँ गाँवों का पुराना सगठन चल रहा है, वहाँ-वहाँ यही हाल है, जहाँ वह संगठन टूट चुका है वहाँ की बात दूसरी है।

(ग) **गाँवों का संगठन टूट चुका है**—गाँवो का अपने देश मे जो सगठन था वह अंग्रेजों के समय बहुत-कुछ टूट गया। पंचायतों और पंचों का ज़ोर कम हो गया। इस ज़माने में गाँवों में एक चौकीदार रखा जाने लगा जिसका काम गाँव की हर शिकायत को थाने में पहुँचाना हो गया। पहले गाँव का गाँव से ही शासन होता था, अब गाँव का गाँव के बाहर के थाने से शासन होने लगा, पंचों की ताकत घट गई और गाँवों में भी एक नई किस्म का वर्ग उत्पन्न हो गया जो थोड़ा-बहुत पढ़-लिख गया था, खेती-बाड़ी छोड़कर बाबूगिरी करने लगा था और अपनी हर पुरानी बात को नफरत की नज़र से देखने लगा था।

ये लोग न गाँव वाले रहे थे, न शहरी—इन लोगों का एक कदम गाँव में गड़ा था, परन्तु दूसरा शहर की तरफ बढ़ रहा था। इन्होंने गाँवों के संगठन को ढीला कर दिया।

(घ) **गाँवों की भूमि-व्यवस्था**—गाँव का सबसे बड़ा पेशा काश्तकारी है। किसान खेत जोतता-बोता है, उसकी पैदावार से अपना पेट भरता है। परन्तु उसी के पेट भरने से तो काम नही चलता। देश की सरकार भी तो चलनी है। किसान अपने लिये कमाता है और सरकार के लिए भी कमाता है। भारत मे भूमि-व्यवस्था-सम्बन्धी-नीति का आधार यह समझा जाता रहा है कि देश का राजा या देश की सरकार ही भूमि की स्वामी है। उसकी दी हुई भूमि पर किसान हल चलाता है इसलिए राजा या सरकार किसान से जो भूमि-कर लेना चाहे, ले सकती है, किसान को भूमि से हटाना चाहे, हटा सकती है। भूमि-कर दिये बिना भी किसान भूमि का स्वामी हो सकता है—यह स्थिति अपने यहाँ नही मानी जाती। गाँव का सगठन गाँव वालों की दृष्टि में खेती की पैदावार तथा सरकार की दृष्टि में मालगुजारी के लिए है, और इन दोनो का सम्बन्ध 'भूमि-व्यवस्था' से है इसलिये इस सम्बन्ध मे हम यहाँ एक पृथक् शीर्षक देकर उस पर विचार करेंगे।

४. गाँवों की भूमि-व्यवस्था

'मालगुज़ारी' (Revenue) तथा 'भू-स्वामित्व' (Tenancy)

भूमि के सम्बन्ध में गाँव वालो की अनेक समस्याएँ हैं। किसान ज़मीन का मालिक माना जायगा या नही, अगर मालिक नही माना जायगा तो उसे बेदखल किया जा सकेगा या नही, अगर बेदखल किया जा सकेगा तो कितनी मालगुज़ारी न देने पर बेदखल किया जा सकेगा, मालगुज़ारी का माप-दंड क्या होगा, उपजाऊ-अनुपजाऊ भूमि पर प्रति एकड़ एक-समान मालगुज़ारी देनी होगी या भूमि की उपजाऊ-शक्ति के आधार पर मालगुज़ारी लगेगी, मालगुज़ारी एक बार निश्चित कर दी

जायगी या समय-समय पर बदलती रहेगी—ये सब समस्याएँ हैं जो सदियों से किसानों को परेशान करती रही हैं। इन समस्याओं की आत्मा को समझने के लिये हमें इस विषय के पिछले इतिहास पर सरसरी नज़र डालनी होगी।

इन समस्याओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक भाग तो 'भूमि-मालगुज़ारी' (Land Revenue) से सम्बन्ध रखता है और बहुत-से प्रश्न इस 'भूमि-मालगुज़ारी' से जुड़े हुए हैं। 'मालगुज़ारी' (Revenue) तथा 'लगान' (Rent) में भेद है। जहाँ ज़मींदारी-प्रथा रही है, वहाँ सरकार ज़मींदार से 'मालगुज़ारी' लेती रही है, परन्तु 'ज़मींदार' किसानों से सरकार को मालगुज़ारी देने के लिये 'लगान' लेता रहा है। ज़मीदार 'लगान' बहुत बडी राशि में वसूल करता रहा है, उसका कुछ हिस्सा 'मालगुज़ारी' में देता रहा है। भूमि-व्यवस्था में सबसे बडी समस्या यही रही है कि सरकार किसान से सीधे मालगुज़ारी ले, या ज़मीदार को बीच में डालकर उसे वसूल करे। मालगुज़ारी के अतिरिक्त भूमि-व्यवस्था की दूसरी समस्या 'भू-स्वामित्व' (Land tenure) की रही है। गाँव की भूमि का कौन मालिक है ? क्या उसकी मालिक सरकार है, क्या ज़मींदार है, या किसान है ? भूमि-सबंधी प्रश्नों को हम 'मालगुज़ारी' (Revenue) तथा 'भू-स्वामित्व' (Tenancy)—इन दो में बाँट सकते हैं। दोनो का अपना-अपना इतिहास है इसलिए हम इन दोनों पर क्रमशः विचार करेंगे।

५. अंग्रेज़ों से पहले गाँवों की 'मालगुज़ारी' की व्यवस्था (Land-Revenue System before the British)

मुग़ल-बादशाहो से पहले, मनु के समय से लेकर अनेक हिन्दू-राजाओ तक, यहाँ की प्रथा यह थी कि उपज का छठा हिस्सा राज-कोष में चला जाता था। शेरशाह और अकबर के समय यह सुधार किया गया कि उपज का नकद दाम या अनाज दोनों मे से कुछ भी मालगुज़ारी या

भूमिकर के रूप में दिया जा सकता था। कितना दिया जाय—यह भूमि की उपजाऊ-शक्ति को देखकर भिन्न-भिन्न तय किया जाता था। इसके बाद, डॉ० राधाकमल मुकर्जी के कथनानुसार, मुगल-राज्य में सामूहिक मालगुजारी की प्रथा चालू की गई। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक प्रान्त से शाही खजाने के लिए मालगुजारी की रकम पैदावार का आधा हिस्सा निश्चित कर दी गई और यह आधा हिस्सा उन प्रान्तों से वसूल कर लिया जाता जिन पर यह रकम लागू की गई थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों, और प्रान्तो मे भी भिन्न-भिन्न रकबो से मालगुजारी वसूल करने की जिम्मेदारी किन्ही खास-खास व्यक्तियो पर रख दी गई। ये व्यक्ति ही जमीदार कहलाते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि किसानो पर जोर-जब्र होने लगा, मालगुजारी की बढी हुई माग को पूरा न कर सकने के कारण स्त्रियो तथा बच्चो तक को गुलामो के तौर पर किसानो को बेचना पडा।

६. अंग्रेजों के समय गाँवों की मालगुज़ारी की व्यवस्था (Land Revenue System under the British)

(क) **ज़मींदारी-प्रथा**—प्राचीन-काल मे तो ऐसा नही था, परन्तु मुगल-काल से भारत में एक व्यवस्था चल पडी थी जिसके अनुसार सरकार किसान से सीधी मालगुज़ारी न लेकर एक बीच के व्यक्ति से मालगुज़ारी वसूल करलेती थी, हर-एक से अलग-अलग लेने के झगडे में नही पडती थी, और वह बीचवाला हर-एक किसान से अलग-अलग मालगुजारी वसूल करता था। ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी जब भारत मे आई, तो उसको भी मालगुज़ारी वसूल करने का यह तरीका आसान प्रतीत हुआ। इस प्रकार ज़मीदारी-प्रथा अंग्रेज़ो के शासन-काल में पक्की हो गई। इन जमीदारो के साथ एक रकम निश्चित कर दी जाती थी, और उस रकम को अदा करना ज़मींदार का काम होता था। इस रकम में हेर-फेर नहीं हो सकता था। इस व्यवस्था को 'स्थायी-बन्दोबस्त' (Permanent Settlement) कहा जाता है। कुछ अंग्रेजो को इस व्यवस्था में दोष

दिखलाई दिया। वे देखते थे कि किसान नई-नई ज़मीन जोतने लगा है, उपज बढ़ रही है, परन्तु मालगुज़ारी की ज़मींदार के साथ मात्रा निश्चित होने के कारण वे उसे बढा नही सकते थे। वारन हेस्टिंग्स ने 'स्थायी' की जगह 'अस्थायी-बन्दोबस्त' (Temporary settlement) चलाना चाहा, परन्तु वह चल न सका। अन्त में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में 'स्थायी-बन्दोबस्त' जारी कर दिया। उसने जमीनें नीलाम करनी शुरू कर दीं, जो ज़्यादा-से-ज्यादा मालगुजारी देने की बोली देता था, उसके नाम जमीन छोड दी जाती थी। कार्नवालिस खुद इङ्गलैण्ड का एक ज़मींदार था और इस प्रथा को रुपया वसूल करने का सहज तरीका समझता था। कार्नवालिस की इस कार्यवाही का परिणाम यह हुआ कि जमींदार जो अभी तक सरकार की देख-रेख में एक तरह के मालगुज़ारी वसूल करने के एजेंट थे, उन्हे अपने-अपने क्षेत्र में मालगुज़ारी वसूल करने के पूरे-पूरे अधिकार दे दिये गए। इस सब का नतीजा यह हुआ कि जमींदारों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जिसका काम किसानो से अधिक-से-अधिक पैसा वसूल करना था, वे खुद कोई काम-काज नही करते थे, आराम से शहरो मे कोठियां बनाकर चैन की बसी बजाते थे, और अपने मुनीमो के जरिये मालगुजारी वसूल कर एक तरह का राज करते थे। नीलामी मे उन्होंने जितनी मालगुज़ारी देने की बोली दी होती थी उतनी मालगुज़ारी सरकार को देने के बाद जितना भी वे किसान से वसूल कर सकते थे उसे अपने पास रख सकते थे, इसलिए 'स्थायी-बन्दोबस्त' मे किसान से वे ज्यादा-से-ज्यादा वसूल करने लगे।

अभी हमने कहा कि कार्नवालिस ने बगाल में 'स्थायी-बदोबस्त' जारी किया था। इस व्यवस्था से जिस प्रकार नियमपूर्वक मालगुजारी आ रही थी उसे देखते हुए ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के डायरेक्टरो ने बनारस, उत्तरी-मद्रास तथा दक्षिणी-मद्रास में भी इस प्रथा को जारी करने का प्रयत्न किया। जब दक्षिणी-मद्रास में 'स्थायी-बन्दोबस्त' को जारी

करने की कोशिश की जा रही थी, तब कम्पनी को कठिनाई का सामना करना पड़ा। 'स्थायी-बन्दोबस्त' के लिए यह ज़रूरी था कि कुछ इलाकों को इकट्ठा करके उनकी बोली ली जाय, और जो सबसे ज्यादा बोली दे उसे उस इलाके का जमीदार बना दिया जाय। अभी तक ये किसान सीधा सरकार को मालगुजारी दे रहे थे। इस प्रकार सरकार तथा किसान के मालगुजारी के सीधे सम्बन्ध को 'रय्यतवारी'-प्रथा कहते हैं। सरकार और किसान के बीच इस प्रकार एक तीसरे, अर्थात् जमीदार का आ जाना किसानो को भला कैसे रुच सकता था। इसका मतलब तो यह होता कि किसान जो अब तक सीधा सरकार के प्रति ज़िम्मेदार था, अब जमीदार के प्रति उत्तरदायी हो जाता, और जमीदार उस पर मन-माना मालगुजारी का बोझ लाद देता। दक्षिणी-मद्रास के किसानों ने सरकार के इस प्रयत्न को सफल नही होने दिया और वहाँ 'स्थायी-बन्दोबस्त' न चल सका।

'स्थायी-बन्दोबस्त' और 'अस्थायी-बन्दोबस्त' का जिस प्रकार ऐति-हासिक विकास हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'स्थायी-बन्दोबस्त' का जमीदारी-प्रथा से सम्बन्ध हो, और 'अस्थायी-बन्दोबस्त' का 'रय्यत-वारी'-प्रथा के साथ, परन्तु ऐसा-कुछ नही है। 'ज़मीदारी-प्रथा' का अर्थ है सरकार तथा किसान के बीच मालगुजारी के लिए जमीदार का माध्यम के रूप मे होना, 'रय्यतवारी-प्रथा' का अर्थ है सरकार तथा रय्यत अर्थात् किसान का मालगुजारी के सम्बन्ध में सीधा सम्बन्ध होना। 'जमीदारी-प्रथा' में भी मालगुजारी की रकम पक्के तौर से निश्चित की जा सकती है, 'रय्यतवारी-प्रथा' मे भी, 'जमीदारी-प्रथा' में भी मालगुज़ारी की रकम समय-समय पर बदली जा सकती है, 'रय्यतवारी-प्रथा' मे भी। परन्तु क्योंकि शुरू-शुरू मे कार्नवालिस के समय 'स्थायी-बन्दोबस्त' करते हुए जमीदारो के साथ स्थायी तौर से मालगुजारी निश्चित करने का प्रश्न उठा था, इसलिए 'ज़मीदारी-प्रथा' और 'स्थायी-बन्दोबस्त' का सम्बन्ध जुड गया है, वास्तव में इन दोनो का ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है

को श्रमिट हो। 'स्थायी' और 'अस्थायी'-बन्दोबस्त ज़मींदारी तथा रय्यत-वारी दोनों प्रकार की भूमि-व्यवस्थाओं में हो सकता है। ज़मींदारी तथा रय्यतवारी दोनों प्रथाओं में अगर सरकार स्थायी तौर पर मालगुज़ारी की रकम निश्चित कर देती है, तो वह स्थायी-बन्दोबस्त कहलाता है, अगर स्थायी तौर पर निश्चित नहीं करती, समय-समय पर बदलती रहती है, तो वह अस्थायी-बन्दोबस्त कहलाता है।

क्योंकि 'स्थायी-बन्दोबस्त' से कम्पनी-सरकार को नुकसान होता था, किसान की पैदावार ज्यादा होती थी और जमीदार के साथ पहले से निश्चित रकम बँधी हुई थी, इसलिए १८२१ में कम्पनी के डायरेक्टरों ने यह घोषित कर दिया कि उत्तरी-भारत मे वे 'स्थायी-बन्दोबस्त' को नही जारी करेंगे। इस सम्बन्ध मे काफी देर तक विवाद चलता रहा, परन्तु अन्त में १८८३ में भारत-सचिव ने ऐसी घोषणा कर दी कि अब से 'स्थायी-बन्दोबस्त' की नीति को आगे से जारी नही रखा जा सकेगा।

(ख) **महालवारी-प्रथा**—ज़मींदारी-प्रथा में बंगाल में तो यह मान लिया गया था कि कुछ गाँव एक जमीदार की मिल्कियत हैं, उनकी मालगुज़ारी वह जमीदार देता है, परन्तु आगरा-अवध तथा पंजाब में यह बात नहीं मानी गई। इनमे यह सिद्धान्त माना गया कि गाँवों के कुछ समूह, जिन्हें 'महाल' कहा जाता है, किसी व्यक्ति-विशेष की मिल्कियत नही हैं, वे सब गाँव वालों की साझी सम्पत्ति हैं, इसलिये किसी एक जमींदार से उस 'महाल' की मालगुज़ारी के लिये कोई फ़ैसला नही किया जा सकता। इन साझीदारों में से किसी एक को सरकार इस बात का जिम्मेवार ठहरा देती थी कि वह सारे 'महाल' की—अर्थात् उन सब गाँवो की जो उस 'महाल' के अन्दर आ जाते हैं—मालगुजारी इकट्ठी करके सरकार के कोष में जमा कर दे। इस प्रथा के क्रियात्मक रूप जगह-जगह पर भिन्न-भिन्न हैं। आगरा-बन्दोबस्त के अनुसार यद्यपि मालगुजारी अदा करने की जिम्मेदारी सारे-के-सारे गाँव

की साझी है, तो भी गाँव का कोई हिस्सा या गाँव का कोई किसान इस बात की माँग कर सकता है कि उसकी ज़िम्मेदारी सबसे अलग कर दी जाय, वह अपना ज़िम्मा ले सकता है, सबका जिम्मा नहीं ले सकता। साझी जिम्मेदारी का यह मतलब था कि अगर कोई किसान मालगुजारी नहीं देगा, तो वह गाँव के दूसरे लोगो से भी वसूल की जा सकती है। पंजाब मे यद्यपि कहने को 'महालवारी' की प्रथा है, तो भी किसान से व्यक्ति-रूप में भी मालगुजारी वसूल की जा सकती है। सी० पी० में आगरा-महालवारी-बन्दोबस्त जैसी ही प्रथा है। जैसे जमीदारी-प्रथा मे 'स्थायी' तथा 'अस्थायी'-बन्दोबस्त हो सकता है, वैसे 'महालवारी' मे भी हो सकता है—अर्थात् 'स्थायी-बन्दोबस्त' में मालगुजारी की रकम एक बार अन्तिम तौर पर निश्चित की जा सकती है, और 'अस्थायी-बन्दोबस्त' में उस रकम को २०-३० साल के बाद घटाया या बढ़ाया जा सकता है। परन्तु जैसा हम ऊपर कह आये हैं, १८८३ के बाद से भारत मे 'स्थायी-बन्दोबस्त' की नीति को छोड़ दिया गया क्योंकि बार-बार मालगुजारी की रकम को बदलने से सरकार उसे बढ़ाकर अपना कोठा पूरा कर सकती थी।

(ग) **रय्यतवारी-प्रथा**—इस प्रथा मे किसान का सम्बन्ध सीधा सरकार के साथ होता है। जमीदारी-प्रथा में ज़मीदार किसान से मालगुज़ारी वसूल करता है, महालवारी-प्रथा में भी सरकार सब किसानों से अलग-अलग मालगुजारी नही वसूल करती, मालगुजार से वसूल करती है, परन्तु रय्यतवारी-प्रथा मे तो सरकार का और किसान अर्थात् रय्यत का सीधा सम्बन्ध होता है। शुरू-शुरू मे कैप्टन रीड तथा थौमस मनरो ने १७९२ मे इस प्रथा को मद्रास के बारामहल ज़िले मे चालू किया और उसके बाद धीरे-धीरे बम्बई में भी यही प्रथा जारी की गई। असल में जिन गाँवो में रय्यतवारी-प्रथा जारी की गई उनमे भी पहले 'महालवारी'-प्रथा चल रही थी। 'महालवारी'-प्रथा गाँव की सामुदायिक भावना का एक जीता-जागता दृष्टान्त है। गाँव का सब-कुछ सबका

साझा है। इस दृष्टि से अपने यहाँ साम्यवाद का यह एक क्रियात्मक नमूना था। अंग्रेज़ों ने या तो ज़मींदारी-प्रथा को प्रोत्साहन दिया, या रय्यतवारी-प्रथा को। ज़मींदारी-प्रथा को इसलिए क्योंकि इससे मालगुजारी वसूल करने की उनकी दिक्कत बचती थी, और रय्यतवारी-प्रथा को इसलिये क्योंकि इससे बीच का मुनाफ़ा भी उनकी जेब में जाता था। अंग्रेज़ यही कहते रहे कि 'महालवारी-प्रथा' भारत की प्रथा नहीं है, यहाँ 'रय्यतवारी-प्रथा' ही चलती रही है। बेडन-पावल का कहना है कि भारत के गाँव 'रय्यतवारी' सिद्धान्त पर ही बने हुये थे। इस बात का श्री राधाकमल मुकर्जी ने समर्थन किया है। उनका कहना है कि यहाँ की प्रचलित 'महालवारी'-प्रथा इस बात को सिद्ध करती है कि भूमि पर ग्रामवासियों के सामूहिक स्वामित्व की प्रथा यहाँ मौजूद थी। और, 'रय्यतवारी-प्रथा' का यह अभिप्राय है कि किसान को सीधी सरकार से भूमि प्राप्त होती है, और बीच में दूसरा कोई दखल देने वाला नहीं है। उसका ज़मीन पर कब्ज़ा होता है, वह ज़मीन विरासत मे आगे-आगे जाती है, उसे बेचा जा सकता है। हाँ, अगर मालगुजारी न दी जाय, तो उस ज़मीन को सरकार ज़ब्त कर सकती है, बेदखली करा सकती है। आशा तो यह करनी चाहिए थी कि जहाँ इस प्रकार किसान का भूमि पर स्वामित्व होगा वहाँ किसान खुशहाल होगा, परन्तु क्योंकि अंग्रेज़ी सरकार 'स्थायी-बन्दोबस्त' को छोड चुकी थी, और बार-बार नए सिरे से लगान लगाती रहती थी, और हर बार पिछली बार से कुछ बढा देती थी, इसलिए 'रय्यतवारी'-प्रथा से भी किसान खुशहाल न हुआ।

७. अंग्रेज़ों के समय 'भू-स्वामित्व' की व्यवस्था (Land Tenure System under The British)

भूमि-व्यवस्था के मुख्य अंग दो हैं—'मालगुजारी की व्यवस्था' (Land revenue system) तथा 'भू-स्वामित्व की व्यवस्था' (Land

tenure system)। हमने देखा कि अंग्रेजो ने इस देश में जमींदारी-प्रथा को प्रधानता दी। उनका ऐसा करना स्वाभाविक भी था। पश्चिम से वे आये थे, वहा 'सामन्त-पद्धति' (Feudalism) को उन्होंने देखा था। पश्चिम के ये 'सामन्त' राजा तथा किसान के बीच माध्यम का काम करते थे। भारत के प्राचीन-इतिहास में तो इन सामन्तो का कहीं नाम नही आता, राजा सीधा प्रजा से कर वसूल करता था, परन्तु यहाँ भी बीच के काल में, जब केन्द्रीय राज-शक्ति कमजोर पड़ गई, तब इस प्रकार के सामन्तो से काम लिया जाने लगा। इन बीच के लोगों की आवश्यकता ही तब पडती है, जब सरकार सीधा प्रजा से संपर्क नहीं बना सकती। मुगलो के समय से इस प्रकार के जमीदार चले आ रहे थे, अग्रेजो ने भी जो इस प्रकार की पद्धति से अपने देश में पहले से परिचित थे, जब यहाँ इस प्रथा को चलते देखा, तो झट-से इसे अपना लिया और इसी प्रथा को देश में प्रोत्साहन दिया। इससे उन्हे मालगुजारी वसूल करने मे आसानी प्रतीत हुई और जमीदारों को भी किसान से मनमाना लगान वसूल करने की छूट होने के कारण इसमें बहुत लाभ प्रतीत हुआ। परन्तु इससे किसान पर क्या गुजरी ?

अगर तो जमीदार जमीन को खुद जोतता-बोता या अपने मजदूरों से जुतवाता-बुवाता और सरकार को मालगुजारी देता, तब तो कोई समस्या नहीं थी। तब तो सरकार जमीदार से मालगुजारी लेती, और जमीदार या तो खुद हल चलाता, या मजदूर रखकर खेती करता। वे मजदूर काम करते और मजदूरी लेकर अलग होते और किसी प्रकार की समस्या न खड़ी होती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। जमीदार ने मजदूर रखने के स्थान मे किसान को जमीन खेती के लिए दे दी। इस किसान ने खुद लग कर, अपने बीबी-बच्चों को लगाकर, मौके-बे-मौके अपने दूर के सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर, जरूरत पड़ी तो मजदूरों को मजदूरी देकर, दिन-रात एक करके जमीन को हरा-भरा किया। अब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि जिस किसान ने खून-पसीना एक करके सूखे में

हरियावल खड़ी की उसका उस जमीन पर स्वामित्व है या नहीं ? क्या ज़मीदार अपनी इच्छा से जब चाहे उसे ज़मीन पर से हटा सकता है, या किसान का भी उस ज़मीन पर कोई अधिकार है ?

स्वाभाविक तो यही प्रतीत होता है कि उसका अधिकार होना चाहिए, परन्तु स्थिति कुछ विचित्र थी। स्थिति यह थी कि अंग्रेजों ने ज़मीदारो की एक श्रेणी बना दी थी और वे स्वय काम करने के स्थान में किसानो को लगान पर ज़मीन देकर उनसे काम कराते थे, इन किसानो में से भी कई स्वय काम नही करते थे, उन्होने भी आगे ज़मीन लगान पर देने का सिलसिला चला रखा था। परिणाम यह था कि जमींदार और किसान के बीच भी दूसरे हकदार थे, और जमीन को उपजाऊ बनाने तथा कृषि को सुधारने के बजाय हर-एक दूसरे को लूट लेना चाहता था। इस चहुँमुखी लूट का अंतिम किसान पर बहुत बुरा असर पडता था, उस बेचारे के पास तो कुछ रहता ही न था। उसका जब चाहे कर बढा दिया जाता था, जब चाहे उसे भूमि से बेदख़ल कर दिया जाता था। इस सारी स्थिति को सुधारने के लिए समय-समय पर कानून बनते रहे। बगाल मे १८५६ मे 'बगाल रेंट-एक्ट' बना जिसे श्री आर० सी० दत्त ने बगाल के किसानो के लिए राहत का एक्ट कहा। हम पहले ही कह आये हैं कि बगाल मे 'स्थायी-बन्दोबस्त' था और ज़मीदारो के साथ एक बार मालगुज़ारी की राशि निश्चित हो चुकी थी जिसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता था। ये ज़मीदार किसानो को मनमानी तौर पर लूटने लगे थे। जब चाहते उनका लगान बढ़ा देते, न देने पर जब चाहे उन्हें जमीन से निकाल देते। अब इस १८५६ के कानून के अनुसार किसानो को तीन श्रेणियों में बाँट दिया गया। जिन किसानो के पास १७९३ से जमीनें थी, और इस बीच उनके लगान नही बढ़े थे, उनके लिये निश्चित हुआ कि अब आगे भी उनके लगान कभी नही बढ़ेंगे, जिन किसानो के पास पिछले २० साल से ज़मीनें थीं और इस बीस साल में उनके लगान नही बढ़े थे, उनके लिए

कहा गया कि यही समझा जायगा कि इनके पास १७९३ से ही ये ज़मीनें हैं और उनके लगान भी नहीं बढ़ सकेंगे; जिन किसानो के पास पिछले १२ साल से जमीनें थी उनको मौरूसी अधिकार दे दिया गया और यह निश्चय किया गया कि उनका लगान बिना सरकारी आज्ञा के नही बढाया जा सकेगा। इस श्रेणी को बगाल के जमींदारों ने बहुत तंग करना शुरू किया। हरचद वे कोशिश करने लगे कि कोई किसान १२ साल तक लगातार एक ज़मीन पर रह न सके। 'बगाल-रेंट-एक्ट' के अनुसार यू० पी०, पंजाब, बिहार, उडीसा, बम्बई तथा मद्रास में भी इसी प्रकार के कानून पास किए गए जिनमें किसान को ज़मीनों पर मौरूसी हक देने का प्रयत्न किया गया, उसे जहाँ तक हो सकता था वहाँ तक ज्यादा-से-ज्यादा 'भू-स्वामित्व' दिया गया, परन्तु किसानों की अधिक संख्या इन कानूनों के क्षेत्र से बाहर ही रही, कानून ही ऐसे बनते थे कि उनकी परिभाषा के अन्दर आने वाले किसानो की सख्या बहुत परिमित रहती थी।

जब पहले-पहल १९३५ के 'गवर्नमेट ऑफ इण्डिया एक्ट' के अनुसार १९३७ में काग्रेस ने चुनाव में भाग लेकर अपना मत्री-मडल बनाया तब किसानो की स्थिति सुधारने के सम्बन्ध मे अनेक कानून बनाये गये। इन कानूनो का उद्देश्य था—(क) लगान बढाने पर रोक लगाई जाय, (ख) बेदखली पर रोक लगाई जाय, (ग) किसानो को मौरूसी हक दिये जायँ ताकि उनका भूमि पर स्वामित्व हो जाय, यह स्वामित्व पुश्तैनी हो, किसान जब चाहे इस अधिकार को दूसरे को दे सके, (घ) बकाया लगान पर राहत दी जाय और बैलों आदि की कुर्की पर रोक लगाई जाय, (ङ) अगर जमींदारो को मालगुजारी में सरकार की तरफ़ से राहत मिले तो किसान को भी लगान में राहत मिले, (च) अगर किसान ज़मीन को उपजाऊ बनाने या उसके विकास मे कुछ खर्च करे तो उसे उसका विकास का मुआवज़ा दिया जाय।

इन उद्देश्यों को सामने रखकर कांग्रेस सरकारों ने १६३८ में बंगाल में 'बंगाल-टैनेंसी-अमेंडमेंट-एक्ट', १६३६ में यू० पी० में 'यू० पी० टैनेंसी-अमेंडमेंट एक्ट', १६३६ में सी०पी० में 'सी०पी०-टैनेंसी-अमेंडमेंट-एक्ट' पास किये और इसी प्रकार मद्रास तथा बम्बई में भी इसी प्रकार के कानून पास किये गए जिनसे किसानो को भू-स्वामित्व के अधिकार देने के साथ-साथ अन्य प्रकार की सुविधाएँ भी दी गई। १६३६ में उत्तर-प्रदेश मे जो सुधार हुए वे निम्न थे—

(क) जमीदार 'सीर' की जमीन नही बढा सकता था। 'सीर'-जमीन उसको कहते हैं जो जमींदार अपने लिए रखता है। इस ज़मीन पर वह मजदूर रखकर काम कराता है। क्योंकि जमींदारों को यह डर था कि काश्तकार जिस ज़मीन पर हल चलायेगा वह किसी-न-किसी समय काश्तकार की हो सकती है इसलिए ज़मींदार 'सीर' बढ़ाते रहते थे। इस कानून से ज़मीदार के लिए 'सीर' की मात्रा निश्चित कर दी गई जिससे अधिक वह 'सीर' नही बढा सकता था।

(ख) कुछ 'सीर'-ज़मीने जमीदारो की न रही और उन पर जो काश्तकार हल चलाते थे वे उनके मौरूसी काश्तकार बना दिये गए।

(ग) यह निश्चय किया गया कि पाँच साल के अन्दर-अन्दर भूमि का लगान घटाकर १८६५ और १६०६ में जो लगान था वह कर दिया जाय।

(घ) उसके बाद २० साल तक लगान में कोई तब्दीली नहीं होगी, होगी भी तो किन्ही खास अवस्थाओ मे ही हो सकेगी।

(ङ) बकाया लगान पर सूद की दर घटाकर सवा-छः प्रतिशत कर दी गई।

(च) बेदखली के नियम कड़े कर दिए गए।

(छ) किसान को खेत में बाग़ लगाने, मकान बनाने के अधिकार भी दिए गए।

८. ज़मींदारी उन्मूलन कानून (Zamindari Abolition Act)

किसानो की दशा सुधारने के जो प्रयत्न हुए उनके मुख्य उद्देश्य तीन थे—'भू-स्वामित्व' (Fixity of tenure), 'न्याय-संगत लगान' (Fair rents) तथा 'तबादले की स्वतन्त्रता' (Free transfer)। किसान ये तीन बाते चाहता था। इनमें सबसे बडी समस्या 'भू-स्वामित्व' की थी। जब तक जमीदारी-प्रथा बनी हुई थी तब तक इस समस्या का हल होना कठिन था, इसलिए १ जुलाई १६५२ को उत्तर-प्रदेश मे से जमींदारी-प्रथा का ही उन्मूलन कर दिया गया। 'प्लैनिग-कमीशन' ने प्रथम पंच-वर्षीय-योजना मे इस बात पर जोर दिया था कि किसानो की दशा सुधारने के लिए जमीदारी-प्रथा को हटाना होगा। परिणाम-स्वरूप प्रथम-योजना-काल में सब प्रान्तो में इस प्रथा को कानूनन हटा दिया गया। उत्तर-प्रदेश के कुछ जमीदारो ने प्रथम भारतीय-विधान के अन्तर्गत इस धारा के आधार पर कि किसी के निजी अधिकार पर कोई कानून वार नही कर सकेगा सुप्रीम-कोर्ट मे 'जमीदारी-उन्मूलन-कानून' पर आपत्ति की थी, इसलिए कुछ देर तक इस कानून को स्थगित रखना पड़ा, परन्तु इस बीच १६५२ मे ही विधान मे ऐसा परिवर्तन कर दिया गया जिससे यह आपत्ति जाती रही। यह नया कानून प्राय. सभी प्रान्तो में लग चुका है। उत्तर-प्रदेश के ज़मीदारी-उन्मूलन-कानून की मुख्य बातें निम्न हैं :—

अभी तक ज़मीदार के नीचे दो तरह के किसान थे—मौरूसी तथा शिकमी। मौरूसी काश्तकार तो वह था जिसका कई साल तक जोतने के कारण भूमि पर स्वामित्व मान लिया गया था, शिकमी काश्तकार वह था जिसे दो-एक साल के लिए जमीन जोतने के लिये दे दी जाती थी, फिर वापस ले ली जाती थी। ज़मीदार भी शिकमी-काश्तकार रख सकता था, मौरूसी-काश्तकार भी शिकमी-काश्तकार रख सकता था।

इसके अलावा जमींदार के पास कुछ और जमीन होती थी जिसे, अगर वह छोटा जमींदार था, तो उस पर खुद हल चलाता था और इसलिए वह जमीन 'खुदकाश्त' कहलाती थी; अगर वह बड़ा जमींदार था, तो नौकर रखकर खेती करता था, यह उसकी 'सीर' की जमीन कहलाती थी। इस प्रकार जमीन चार तरह की हुई—मौरूसी, शिकमी, (अधिवासी) खुदकाश्त औरसीर। जमींदारी-उन्मूलन-कानून के अनुसार जमींदार को तो सरकार ने मुआवजा देकर अलग कर दिया। अब ये चार तरह के किसान रह गए। इन किसानो मे जिनके पास खुदकाश्त तथा सीर की जमीन थी, वह तो उनकी ही रह गई। अगर बड़े जमींदार भी थे और उनकी सीर की जमीन थी, तो वह भी उनकी ही रही, वह उनसे नहीं छीनी गई। कई छोटे जमींदार थे, वे कहलाते जमींदार थे परन्तु थे काश्तकार ही, स्वय जोतते-बोते थे। यह खुदकाश्त की जमीन भी उनकी ही रही। अब रही मौरूसी और शिकमी जमीन। मौरूसी काश्तकार अब तक भूमि का मालिक नही था, जब तक वह लगान देता रहता तब तक उसे कोई बेदखल नही कर सकता था। परन्तु जमींदारी-उन्मूलन-कानून के अनुसार यह निश्चय किया गया कि जो मौरूसी-किसान लगान का १० गुना सरकार को दे देगा वह उस जमीन का पूरा मालिक बन जायगा, वह 'भूमिधर' कहलायेगा। जब तक वह 'भूमिधर' नही बनता तब तक वह जमींदार की जगह सरकार का मौरूसी काश्तकार रहेगा। शिकमी-काश्तकारों की स्थिति इससे भी नही सुधरी। १९५४ में 'जमींदारी-उन्मूलन-कानून' में इन शिकमी-काश्तकारों की दशा सुधारने के लिये एक कानून पास किया गया और यह सुधार ३० अक्तूबर १९५४ से लागू हो गया। इस सुधार के अनुसार शिकमी काश्तकारों को सीर के अधिकार दे दिये गए। मौरूसी-काश्तकारों को १० गुना मुआविजा देकर 'भूमिधर' के अधिकार मिले थे, इन शिकमी-काश्तकारो को भी इसी

प्रकार के अधिकार देने की व्यवस्था की गई। प्रदेश-भर में इन सब 'अधि-वासियों' (शिकमी काश्तकारों) के ४४३२००० खाते थे जिनका कुल रकबा २२ लाख एकड था। १९५४ से पूर्व ये अधिवासी (शिकमी) अपने खातेदार को लगान देते थे। अब इन अधिवासी-काश्तकारों (शिकमियों) को अधिकार दिए गए कि पाँच वर्ष तक वे अगर अपनी भूमि पर काबिज रहे और उसके बाद मालगुजारी का १५ गुना जमा करके 'भूमिधर' के अधिकार प्राप्त करना चाहें तो प्राप्त कर लें। इस प्रकार वे भी अपनी भूमि के स्वामी हो जाएँगे और सीधे सरकार को माल-गुजारी अदा करेंगे। जिस प्रकार सरकार ने जमींदारों को हटाने के लिए मुआविजा दिया है उसी प्रकार खातेदारों को हटाने के लिए और शिक-मियों को 'भूमिधर' बनाने के लिए सरकार उन्हें भी मालगुजारी के १० से २० गुने तक का मुआविजा देगी। अनुमान है कि उत्तर-प्रदेश सरकार को ज़मींदारों को १३७ करोड और खातेदारों को १५ करोड रुपये का भुगतान करना पडेगा। जमींदारी तथा खातेदारी का खात्मा होने पर उत्तर-प्रदेश सरकार को १०२८ लाख रुपये की पहले की अपेक्षा अधिक आय होगी क्योंकि जमींदार का मुनाफा सरकार को मिलने लगेगा। इससे किसान को भी लाभ होगा क्योंकि मौरूसी तथा शिकमी काश्तकार के 'भूमिधर' बन जाने पर उसे पहले की अपेक्षा लगान आधा देना पड़ेगा। ज़मींदार एक बेकार की चीज थी, उसके निकल जाने से सरकार तथा किसान दोनों का फ़ायदा हो गया। आशा तो यह की जाती थी कि इतनी सुविधा होने पर किसान १० गुना भर कर 'भूमिधर' बन जायेंगे, परन्तु किसानों में ग़रीबी इतनी है कि अभी तक ऐसे किसानों की सख्या बहुत काफी है जो 'भूमिधर' नहीं बन सके, फिर भी जमींदार के हट जाने से किसानों के संकट का एक बड़ा भारी कारण दूर हो गया। इसका यह मतलब नहीं है कि किसान की समस्या पूरी-की-पूरी हल हो गई। ज़मींदार की जगह अब सरकार आ गई। सरकार का मतलब है, तहसीलदार या कोई चपरासी। अब ये डण्डा लिए फिरते हैं और

किसान एक मुसीबत से निकलकर दूसरी मुसीबत में फँस गया है। जमींदार तो लल्लो-चप्पो करने से कुछ मान भी जाता था, ये सरकारी अफसर भला कब मानने लगे। इस सब स्थिति पर विचार करके किसानो की स्थिति को और अधिक सुधारने की जरूरत है ताकि ऐसा न हो कि हमने किसान का दुःख दूर करने के लिए जो-कुछ किया वह सब मिट्टी में मिल जाय।

इस प्रकार हमने देखा कि ग्राम का सगठन किस प्रकार बदलता-बदलता आज कहाँ आकर खड़ा हो गया है।

प्रश्न

१. भारतीय ग्रामों का प्राचीन-संगठन कैसा था---इस पर प्रकाश डालिए।

२. 'मालगुजारी' (Revenue) तथा 'लगान' (Rent) में क्या भेद है---यह बतलाते हुए लिखिए कि जमींदारी-प्रथा कैसे उत्पन्न हुई ?

३. स्थायी तथा अस्थायी बन्दोबस्त में क्या भेद है ? जमींदारी तथा रय्यतवारी-प्रथा में क्या भेद है ? स्थायी तथा अस्थायी बन्दोबस्त का जमींदारी तथा रय्यतवारी से कोई सम्बन्ध है या नहीं ? ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी ने पहले स्थायी-बन्दोबस्त को जारी करके फिर उसे अस्थायी-बन्दोबस्त में क्यों परिणत किया ?

४. जमींदारी-प्रथा, महालवारी-प्रथा, रय्यतवारी-प्रथा---इन तीनों में क्या भेद है ?

५. 'भू-स्वामित्व' (Land tenure) के सम्बन्ध में अपने यहाँ क्या-क्या सुधार हुए ?

६. जमींदारी-उन्मूलन के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

७

ग्राम-पंचायत

(VILLAGE-PANCHAYATS)

१. पंचायत का पूर्व इतिहास

स्वायत्त-शासन का यही अर्थ नही है कि कुछ लोगो के हाथ में सत्ता आये, असली स्वायत्त-शासन तो तभी होता है जब जनता के हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता आती है। परन्तु हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता कैसे आ सकती है? इसका तरीका ससार की प्राचीन शासन-प्रणालियों मे मिलता है। ग्रीस, इटली, प्राचीन-भारत तथा अन्य देशो मे ऐसी ग्राम-सभाएँ होती थीं, जिनमें गाँव का हर वयस्क-व्यक्ति सदस्य होता था। समय-समय पर गाँव के सब व्यक्ति इकट्ठे होते थे और गाँव के मसलो को बहुमत से हल करते थे। यूनानी राजा सैल्युकस का राजदूत मैगस्थनीज़ पाटलीपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य-काल में यहाँ रहा। वह लिखता है कि यहाँ के नगरो मे ऐसी सभाएँ हैं, जिनके ३० सदस्य होते हैं, इनकी ६ उप-समितियाँ होती हैं, जो नगर का शासन करती हैं। नगरों की इन सभाओ की तरह ग्रामो की सभाएँ भी होती हैं। इसी पद्धति द्वारा प्राचीन-भारत में ग्रामों का शासन होता था। असल में, ग्रामों की समस्याओं को ग्रामवासी ही समझ सकते हैं। अपनी समस्याओं को हल करने मे जितनी दिलचस्पी उनको होती है उतनी दूसरे किसी को नहीं हो सकती। यह सगठन प्राचीन-काल मे था, इसलिए दिल्ली में किसी का

भी राज रहा हो, गाँवों में गाँव वालों का ही राज रहा, और भारत की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था नहीं टूटी। इसी को 'विकेन्द्रीकरण' या पंचायत-राज्य कहा जाता था। अंग्रेजो के आने से पंचायत-राज की यह व्यवस्था टूट गई। हर बात को अंग्रेजी-राज्य ने केन्द्रित करना चाहा। सारी शक्ति गाँव से थाने में और थाने से जिले में खींच ली गई। जब पचायतों के पास किसी प्रकार की शक्ति न रही, तो उनका शिथिल हो जाना स्वाभाविक था।

२. पंचायतों के ह्रास का कारण

जैसा हमने कहा, अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व इस देश में गाँव-गाँव में पचायतें बनी हुई थीं। मुसलमानों के समय तक पचायतों द्वारा ही ग्रामों का शासन होता था। अंग्रेजो को यहाँ की पचायत-व्यवस्था देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता था। परन्तु अंग्रेजो के लिये इस व्यवस्था द्वारा राज करना कठिन था क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा तो शासन जनता के हाथ मे देना होता था। यह उन्हें अभीष्ट न था। उन्होंने जिस व्यवस्था को जारी किया उसमें पचायतों का दिनोंदिन ह्रास होने लगा। अग्रेजों की व्यवस्था के निम्न कारणों से पंचायतो का ह्रास तेजी से होने लगा—

(क) लगान वसूली की पद्धति—'ग्राम-संगठन' के अध्याय मे हम लिख आये हैं कि पहले यहाँ 'महालवारी'-प्रथा थी। इसका यह अर्थ है कि लगान किसान से व्यक्ति-रूप से वसूल न करके 'महाल' से वसूल किया जाता था। गाँवों के कुछ समूहों को 'महाल' कहा जाता था। वसूली का यह काम किसी समय पंचायत करती थी, फिर जमींदारी-प्रथा चलने पर जमींदार करने लगा। अंग्रेजों के समय यह कानून बना कि लगान प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं जमा करना चाहिये जिससे पचायती-प्रथा की लगान वसूल करने की दृष्टि से आवश्यकता न रही।

(ख) **पुलिस तथा कचहरी की व्यवस्था**—अब तक गाँव की सुरक्षा तथा गाँव के झगडे निपटाने का काम पंचायत का था, परन्तु अंग्रेजों के समय पुलिस की सुदृढ व्यवस्था हो जाने के कारण गाँव की सुरक्षा की जिम्मेदारी पचायत की न रही और गाँवो के झगड़े कचहरियो मे जाने लगे। इस प्रकार पचायतों के पास काम न रहने के कारण भी उनका ह्रास होने लगा।

(ग) **जिला-बोर्डों का निर्माण**—१८४२ मे शहरों के सुशासन के लिये म्यूनिसिपैलिटिया बनी थी, लार्ड रिपन के उद्योग से १८८२ में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का निर्माण हुआ जिनका काम जिले भर के गाँवो का प्रबन्ध करना था। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के बनने से सत्ता पचायतो के हाथ मे न रही, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के हाथ मे आ गई।

३. पंचायत-प्रथा को फिर से चालू करने के प्रयत्न

परन्तु जैसा हम अभी कह आये हैं, स्व-शासन को तभी स्व-शासन कहा जा सकता है जब जनता के हाथ मे सत्ता हो। जनता तो अपने देश में गाँवो में फैली पडी है। जब तक उस जनता के हाथ मे सत्ता नही दी जाती तब तक विधान-सभाओ और ससदो के सदस्य चुन लेने से तो काम नही चल सकता। ये सदस्य तो प्रान्तो मे या केन्द्र मे जाकर बैठ जाते हैं। जनता के हाथ में शासन कैसे आये ? इस बात को अनुभव कर स्वतन्त्र-भारत में पचायतो के पुनरुज्जीवन का कार्य-क्रम प्रारम्भ हुआ। पचायतें बनेगी, तो अपने गाँवों का दिन-प्रतिदिन का शासन गाँव वाले स्वय ही तो करेंगे। यह वास्तविक रूप मे जनता का शासन होगा। स्वतन्त्रता के बाद सब प्रान्तो मे पचायतो के निर्माण के कानून बनने लगे। १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ और ७ दिसम्बर १९४७ को 'उत्तर-प्रदेशीय पंचायत-राज कानून' स्वीकृत हो गया जिसके अनुसार पंचायत-सभा और पंचायत-अदालत का पहला चुनाव फरवरी

१९४९ को कर दिया गया। इस कानून मे अन्तिम संशोधन १९५४ मे हुआ।

इसका यह मतलब नही कि पंचायत के विचार को १९४७ के बाद से ही सोचना शुरू किया गया। इससे बहुत पहले से इस बात को सोचा जा रहा था कि सत्ता केन्द्र मे केन्द्रित न रहकर जनता के हाथ में आनी चाहिए। केन्द्र से प्रान्त में, प्रान्त से जिले में, और जिले से गाँव में सत्ता पहुँचेगी, तभी ठीक-ठीक शासन हो सकेगा। १८४२ तथा १८६२ में कुछ ऐसे कानून बनाये गये थे जिनका आशय यह था कि शहरों में म्यूनिसिपल-कमेटियाँ बननी चाहिएँ ताकि वे शहरो का स्थानीय प्रबन्ध कर सके। १८७० में लार्ड मेयो के प्रस्ताव के अनुसार शहरो मे इन म्यूनिसि-पैलिटियो की सख्या बढ़ा दी गई, किन्तु अभी तक गाँवो की तरफ किसी का ध्यान नही गया। स्थानीय-निकायों को ठीक ढग से चलाने और शहरो तक ही उन्हें सीमित न रखने का श्रेय लार्ड रिपन को है। १८८२ मे स्थानीय-निकायो के लिये लार्ड रिपन के समय मे जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ वह भारतवर्ष में 'स्थानीय-निकाय विकास-काल' कहा जाता है। इसके बाद १९०९ मे रायल-कमीशन बना। इस कमीशन ने कहा कि हम अब तक ग्रामों का पुनर्निर्माण करने में इसलिए सफल नही हुए क्योकि हमने नीव से पुनर्निर्माण के कार्य को नही शुरू किया। इस देश की नीव यहाँ के गाँव हैं। अगर हम ग्रामों का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं, तो पचायतो का पुनरुज्जीवन करना होगा। १९१९ में जब मौन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो के अनुसार स्व-शासन के अधिकार को मानकर सत्ता प्रान्तीय मन्त्रियो के हाथ मे दे दी गई, तब ग्राम-पचायतो की तरफ़ सरकार का ध्यान विशेष रूप से गया।

इस समय जगह-जगह ग्राम पंचायतें बनी। हर प्रान्त मे ग्राम-पंचायत-कानून बने। १९१९ में बंगाल मे, १९२० में मद्रास, बम्बई, सी० पी० तथा उत्तर-प्रदेश में, १९२६ मे बिहार, उड़ीसा, आसाम में तथा १९३५ में पंजाब में ग्राम-पंचायत-कानून स्वीकृत हुआ। बड़ौदा,

मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन आदि रियासतो मे भी यह कानून स्वीकृत हुआ।

३. पंचायत-राज का वर्तमान रूप

भारत के संविधान में सरकारी-नीति के 'निर्देशक-सिद्धान्तों' (Directive Principles) का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि ग्राम-पंचायतों के संगठन पर विशेष ध्यान दिया जायगा। जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, ग्राम-पंचायत के कानून तो पहले ही बन चुके थे, अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इन पचायतों को विशेष रूप से संगठित करने का प्रत्येक प्रान्त ने प्रयत्न किया। ग्राम-पंचायत के सगठन में तीन अन्य संस्थाएँ आ जाती हैं—(क) ग्राम-सभा, (ख) ग्राम-पंचायत तथा (ग) पचायती-अदालत। हम यहाँ इन तीनो पर कुछ लिखेंगे।

४. ग्राम-सभा

१००० से अधिक की आबादी के गाँवों मे एक ग्राम-सभा होगी। जिन गाँवों की आबादी कम होगी, उन्हे पास के दूसरे गाँव के साथ मिला दिया जायगा। २१ वर्ष का हर व्यक्ति—पुरुष हो, स्त्री हो, गाँव-सभा का सदस्य माना जायगा। ग्राम-सभा की दो बैठकें अवश्य होगी—एक खरीफ़ की फसल के बाद, दूसरी रबी की फ़सल के बाद। यदि सभा के २० सदस्य लिखित माँग करें, तो आवेदन-पत्र आनेके ३० दिन के भीतर सभा बुलानी होगी। ग्राम-सभा अपना सभापति अपने-आप चुनेगी। ख़रीफ़ की फसल के बाद की बैठक में सालाना बजट बनाया जायगा और रबी की फसल की बाद की बैठक में बजट का रुपया ठीक-से व्यय हुआ या नही—इस पर विचार होगा।

५. ग्राम-पंचायत

ग्राम-सभा के १००० सदस्यो पर ग्राम-पंचायत के ३० सदस्य, १००० से २००० सदस्य-संख्या पर ३६ सदस्य, २००० से ३००० की

संख्या पर ३६ सदस्य, ३ व ४ हजार की संख्या पर ४५, और ४ हजार से ऊपर की सदस्य-संख्या पर ५१ सदस्य चुने जायँगे। अनुसूचित-जातियो की संख्या के अनुपात से पचायत में उनका स्थान सुरक्षित रखना होगा। इस प्रकार ग्राम-पचायत को ग्राम-सभा चुनती है, और एक तरह से यह ग्राम-सभा की कार्यकारिणी-समिति है। ग्राम-सभा का सभापति ग्राम-पचायत का भी सभापति समझा जाता है। पंचायत के कुल सदस्यों में से एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष हटते जाते हैं, उनकी जगह प्रतिवर्ष नवीन-सदस्यो का चुनाव होता है, और इस प्रकार ग्राम-पचायत कभी भंग नही होती।

ग्राम-पंचायतो का कार्य-क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है। ग्राम-पंचायतो के लिए दो प्रकार के कार्य हैं—'अनिवार्य' तथा 'ऐच्छिक'। अनिवार्य-कार्यों मे सडको की देख-भाल और मरम्मत, उनको सम-तल करना, चौडा करना, ग्राम की सफाई, कूएँ, तालाबो की व्यवस्था, उन्हे शुद्ध रखना, मैला जमा न होने देना, जन्म-मृत्यु का लेखा रखना, प्राथमिक-शिक्षा की व्यवस्था करना, पटवारी, सिपाही, चौकीदार आदि से अगर ग्राम-वासियो को शिकायत हो, तो उसे ऊपर के अधिकारियों तक पहुँचाना—ये सब काम ग्राम-पंचायतो के लिए आवश्यक हैं। ऐच्छिक-कार्यों मे ग्रामवासियो की चिकित्सा का प्रबन्ध करना, वाचनालय तथा पुस्तकालय स्थापित करना, खेती तथा जानवरो की नस्ल को सुधारना, खेल-कूद तथा अखाडों का आयोजन, रेडियो का प्रबन्ध, ग्राम की रक्षा के लिए स्वयं-सेवक-दल का निर्माण, मेले-तमाशे-हाट-बाजार का लगाना—ये सब ऐच्छिक-कार्य हैं, जिन्हें ग्राम-पचायत कर सकती है।

परन्तु इन कामों के लिए रुपया चाहिए। रुपए के लिए ग्राम-सभा को कुछ टैक्स लगाने के अधिकार दे दिये गए हैं। ग्राम-सभा मजदूरों से २रु० सालाना, पल्लेदारो से ३ रु०, गाडीवानों से १॥ रु०, व्यापारियो से ८ रु० सालाना वसूल कर सकती है; १६३६ के काश्तकारी-कानून के मातहत लगान मे से १ आना रुपया टैक्स वसूल कर सकती

है; बाहर से पैठ तथा मेलो में जो व्यापारी अपना माल बेचने के लिए आयें उन पर टैक्स लगा सकती है, पशुओ की बिक्री, कसाई-खानो से टैक्स वसूल कर सकती है; ३०० रुपये वार्षिक की आय वालो पर गृह-कर लगा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार भी ग्राम-सभाओं को आर्थिक-सहायता देती है। अब तो जमीदारी खत्म हो गई, इसलिए सरकार जमीन की मालिक है। अब जो लगान वसूल होगा वह सरकार ग्राम-सभाओं के द्वारा वसूल करने की सोच रही है। इस वसूली के लिए सरकार की तरफ से १ आना रुपया ग्राम-सभाओ को कमीशन दिया जायगा जिससे ग्राम-सभाओ के पास काफ़ी रुपया जमा हो जायगा और इस रुपये को ग्राम-सभा अपने विकास कार्यों पर व्यय कर सकेगी।

६. पंचायती-अदालत

जब ग्राम-सभाएँ पचायत के सदस्य चुनती हैं तब पाँच अतिरिक्त सदस्यो को भी पचायती-अदालत के लिए चुन लेती हैं। हर गाँव की अपनी पचायती-अदालत नही होती, कुछ गाँव मिलाकर उनकी पचायती-अदालत बना दी जाती है। हर गाँव के पाच-पांच मिलाकर ४-५ गाँवों में २०-२५ सदस्य हो जाते हैं। ये सदस्य मिलकर स्वय अपना एक सरपंच चुन लेते हैं। सरपचों और सहायक सरपचो का पढा-लिखा होना आवश्यक है। प्रत्येक मुकदमे के लिए सरपच पहले चुने हुए २०-२५ पचो से पाँच पचो का एक 'बैंच' नियुक्त कर देता है—वादी के गाँव का एक, और प्रतिवादी के गाँव का एक पच इस बैंच मे होना आवश्यक है, शेष तीन पच अन्य गाँवो के होते हैं और यह 'बैंच' मुकदमा सुनकर उस पर फैसला करती है।

पचायती-अदालत फौजदारी तथा दीवानी—दोनो प्रकार के फैसले करती है। फौजदारी मे निम्न मामले पचायती-अदालत सुन सकती है—अदालती समन न लेना, सार्वजनिक मार्ग पर लडाई, मार-पीट,

तेज गाडी चलाना, गन्दे गाने गाना, बेगार लेना, ४० रुपऐ से कम की चोरी, बलात्कार, कूएँ या जलाशय को गन्दा करना, आग लगाना। इन मामलो में पचायती-अदालत जेल की सज़ा नही दे सकती, १०० रु० तक जुर्माना कर सकती है। दीवानी मामलो मे १०० रुपये तक के मुकदमे का यह अदालत फैसला कर सकती है, जायदाद, वसीयत आदि के मुकदमो को नही सुन सकती। यदि कोई अदालत बहुत अच्छा काम करती हो, तो उसे राज्य-सरकार ५०० रु० तक के दीवानी मुकदमे सुनने का अधिकार दे सकती है।

७. पंचायतों के कार्य का मूल्यांकन

पंचायतें ठीक तरह से कार्य करें इसके लिये सरकार ने अपनी तरफ से पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है। 'पंचायत-राज अधिनियम' के अनुसार पचायतों के कार्य की देख-रेख के लिये अनेक अधिकारी नियुक्त किये हुए हैं। पचायत-निरीक्षक, पचायत-अफसर, पंचायत-डायरेक्टर आदि अनेक अधिकारी हैं जिनका काम पचायतो की व्यवस्था को देखना है। ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत तथा पंचायती-अदालत के बजट को पचायत-निरीक्षक देखता है। जो पंचायतें ठीक काम नही करती उन्हे सरकार भग भी कर सकती है, परन्तु इतना सब-कुछ नियन्त्रण रखने पर भी कई कारणो से पचायतें उतना संतोषजनक कार्य नही कर रही जितना करने की उनसे आशा थी। इसके निम्न कारण हैं :

(क) जातिवाद—अभी तक जाति का विचार अपने देश में काफ़ी जड़ पकडे हुए है। ऊँच-नीच का भेद भी इस जातिवाद की ही उपज है। गाँवो के लोग प्राय: अशिक्षित हैं, जाति के विचार के ऊपर वे नही उठ सकते। इसका परिणाम यह होता है कि जब कोई बात पंचायत में आती है तब उसे व्यक्ति की जाति की दृष्टि से देखा जाता। है तथाकथित नीच जाति के व्यक्ति के साथ पूरा-पूरा न्याय नही

हो पाता। पंचायतो के चुनाव में भी यह कभी नही हो सकता कि तथाकथित नीच जाति का व्यक्ति कभी पचायत के किसी उच्च-पद पर चुन लिया जाय।

(ख) **गुटबन्दी**—प्रत्येक गाँव में जो मुख्य-मुख्य व्यक्ति होते हैं उनके अपने-अपने गुट होते हैं। इस प्रकार के गुट शहरो में भी होते हैं। गुट के लोग अपने साथियो का योग्यता की दृष्टि से नही, परन्तु गुट-बन्दी के कारण साथ देते हैं। गाँवों मे तो दुश्मनी भी पुश्तैनी चलती है और उसके साथ बनी गुटबन्दी भी पुश्तैनी चलती है। इस कारण भी पचायतें निष्पक्ष-भाव से गाँव-सुधार का कार्य नही कर पाती।

(ग) **निर्धनता**—इसके अतिरिक्त पचायत का कार्य ऐसा है जिसमें वही व्यक्ति भाग ले सकता है जो आर्थिक-दृष्टि से निश्चित हो। हमारे ग्रामवासी प्रात. से सायं तक अपनी रोटी-पानी की व्यवस्था में ही जुटे रहते हैं, उन्हे पचायती बातों के लिये समय ही कहाँ है। इसीलिये जो खाते-पीते लोग हैं, वे फुर्सत से बैठकर जो फैसला कर देते हैं उसे गाँव के लोग चुपके से मान लेते हैं। इसमे सन्देह नही कि ज्यो-ज्यों देश की निर्धनता दूर होगी, लोग अन्य दिशाओ मे भी दिलचस्पी लेने लगेंगे।

(घ) **अशिक्षा**—पचायतो के कार्य में इच्छित सफलता न मिलने का कारण ग्रामवासियो का शिक्षित न होना भी है। वे अभी अपने अधिकारों के प्रति उतने सचेत नहीं हुए जितना उन्हें होना चाहिये। ज्यों-ज्यो शिक्षा का प्रचार बढता जायगा, ज्यों-ज्यो वे अपने अधिकारों को समझते जायेंगे, त्यो-त्यो वे पचायती-सगठन में अब तक की अपनी उदासीनता को छोड कर इसमें हिस्सा लेने लगेंगे।

८. ज़िला-बोर्ड, अन्तरिम ज़िला-परिषद् तथा ज़िला-परिषद्

जैसा पहले कहा जा चुका है, जिले का काम व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये लार्ड रिपन के उद्योग से १८८२ में डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों का

संगठन प्रारम्भ हुआ। पंचायतों का क्षेत्र तो अपने गाँव तक सीमित रहता है, परन्तु सब ज़िलों के सगठन की भी आवश्यकता है ताकि ज़िले भर की शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, पशु-पालन आदि कीसमस्याओं को ग़ैर-सरकारी तौर पर हल किया जाय और यह कार्य जनता के हाथो में सौंपा जाय। इसी उद्देश्य से जिला-बोर्डों की स्थापना हुई जिसमें चुनाव से कुछ लोग आते थे और ज़िले की समस्याओं को सुलझाते थे। अब जिला-बोर्डों की जगह ज़िला-परिषदो की स्थापना हो रही है और इस दिशा में उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान सरकार ने कदम बढाया है। इन राज्यों में ज़िला-परिषदो का सगठन निम्न प्रकार हुआ है:

(क) **उत्तर-प्रदेश में अन्तरिम ज़िला-परिषद्**—उत्तर-प्रदेश की सरकार ने ज़िले के संगठन की रचना में कुछ हेर-फेर करना आवश्यक समझा और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के पिछले जो चुनाव होने वाले थे उन्हे रोक कर प्रान्त के ५१ जिलों में १९५८ में 'अन्तरिम-ज़िला-परिषद्-अध्यादेश' (Interim Zila Parishad Ordinance, 1958) जारी किया। इस अध्यादेश का उद्देश्य यह था कि ज़िला-बोर्डों की जगह जिला-परिषदें बनायी जायें, और जब तक ज़िला-परिषदें बनाने का अधिनियम विधान-सभा में स्वीकृत न हो जाय तब तक अन्तरिम-काल के लिये अन्तरिम-ज़िला-परिषदें काम करें। यह अन्तरिम-जिला-परिषद् ज्यादा-से-ज्यादा उपयोगी हो सके, इसमें ज़िले के सब ऐसे व्यक्ति जो ज़िले मे कुछ भी रचनात्मक कार्य करते हैं भाग ले सकें, इस उद्देश्य से इसका संगठन ऐसा किया गया जिसमें प्रायः सभी उपयोगी व्यक्ति आ जाते हैं। अन्तरिम-ज़िला-परिषद् के सदस्य जो ग़ैर-सरकारी तथा सरकारी होते हैं निम्न प्रकार लिये गये। इस परिषद् का अध्यक्ष जिलाधीश बनाया गया।

ग़ैर सरकारी सदस्य

(क) ज़िले के लोक-सभा, राज्य-सभा, विधान-सभा तथा विधान-परिषद् के सदस्य।

(ख) जिले का एक हरिजन कार्यकर्ता, अगर वह उक्त सदस्यो मे से कोई नही है।

(ग) जिले की एक सामाजिक तथा रचनात्मक कार्यकर्त्री देवी, अगर वह उक्त सदस्यो मे कोई नही है।

(घ) पाच-गैर-सरकारी सदस्य जिन्हें सरकार मनोनीत करे जिनमे एक औद्योगिक कार्यों मे तथा गृह और कुटीर उद्योग में रुचि रखता हो।

(ङ) जिलाधीश द्वारा मनोनीत दो गैर-सरकारी सदस्य, जिनमें से एक स्काऊट एसोसियेशन का उच्च अधिकारी हो और दूसरा जो विकास-कार्यों मे रुचि रखता हो।

(च) मन्त्री जिला सैनिक, नाविक तथा वायु-सेना बोर्ड (अगर जिले मे हो)।

(छ) अध्यक्ष भूतपूर्व जिला-बोर्ड।

(ज) जिला बोर्ड के मनोनीत सात सदस्य।

(झ) जिले के हा० से० स्कूलो के प्रिन्सिपलो द्वारा चुना हुआ एक प्रतिनिधि।

(ञ) मैनेजिग डायरेक्टर जिला कॉ-ऑपरेटिव बैक।

(ट) अध्यक्ष जिला कॉ-ऑपरेटिव डिवेलपमेट फेडरेशन।

(ठ) समस्त चेयरमैन नगर-पालिका, नोटिफ़ाइड एरिया या टाऊन एरिया।

(ड) गाँव-सभाओ के प्रतिनिधि।

(ढ) एक प्रतिनिधि जिले की हर गन्ना मारकेटिंग सोसाइटी से।

(ण) संयोजक भारत-सेवक-समाज।

(त) राज्य नियोजन बोर्ड का जिले में रहने वाला गैर-सरकारी सदस्य।

(थ) कृषि-पंडित, अगर जिले मे रहता हो।

(द) राज्य-कृषि-बोर्ड का गैर-सरकारी सदस्य, अगर जिले में रहता है।

सरकारी-सदस्य

उक्त ४०-४२ ग़ैर-सरकारी सदस्यो के अतिरिक्त अन्तरिम-जिला-परिषद् के २९-३० सरकारी सदस्य बनाये गये, जो निम्न प्रकार थे—

जिलाधीश (अध्यक्ष), जिला-नियोजन-अधिकारी (मंत्री), ज़िला पूर्ति-अधिकारी, ज़िला पशु-पालन-अधिकारी, जिला स्वास्थ्य-अधिकारी, ज़िला विद्यालय-निरीक्षक, सब-डिवीज़नल आफ़िसर कैनाल्स, असिस्टेंट एन्जीनीयर स्वायत्त-शासन, एक्जीक्यूटिव-एन्जीनियर निर्माण-विभाग, ज़िला रोजगार-अधिकारी, सिविल सर्जन, डिविज़नल-फ़ौरेस्ट-अधिकारी, सब-डिवीजनल-आफिसर, जिला उद्योग अधिकारी, ज़िला सूचना-अधिकारी, जिला कृषि-अधिकारी, जिला सहकारी-अधिकारी, सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस, सहायक पचायत-राज अधिकारी, जिला हरिजन कल्याण-अधिकारी, सहायक समाज-कल्याण अधिकारी, जिला सगठन प्रान्तीय-रक्षक-दल, जिला सगठिका महिला-मगल-योजना।

अब ३१ जुलाई १९५९ मे उत्तर-प्रदेश की विधान-सभा में अन्तरिम ज़िला-परिषद् के स्थान में जिला-परिषद् के स्थिर रूप से बनाये जाने का प्रस्ताव रखा गया है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों के स्थान में जिला-परिषदें कार्य करने लगेंगी।

(ख) राजस्थान में जिला-परिषद्—उत्तर-प्रदेश की तरह राजस्थान मे जिला-परिषदो को डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का स्थान दिया गया है। जिला-परिषद् परामर्श देने एवं सरकार व पचायत-समिति तथा पचायतों के बीच शृंखला स्थापित करने वाली संस्था होगी।

जिला-परिषद् में, जिले की समस्त पचायतो के प्रधान और उनकी अनुपस्थिति में उप-प्रधान, ज़िले से निर्वाचित ससद्-सदस्य और ज़िले मे निवास करने वाले राज्य-सभा के सदस्य, ज़िले से निर्वाचित विधायक-गण, ज़िले के केन्द्रीय सहकारी बैंक का अध्यक्ष और उसके जिला

परिषद् का पदेन सदस्य होने की स्थिति में बैंक के उपाध्यक्ष सदस्य होंगे। परिषद् को अधिकार होगा कि वह जिला-परिषद् में एक महिला, परिगणित जातियो या अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधि तथा प्रशासन, सार्वजनिक जीवन व देहातो के विकास में दिलचस्पी रखने वाले अनुभवी व्यक्ति, नामज़द कर सकेंगे। ज़िला-विकास-अधिकारी ज़िला-परिषद् का पदेन सदस्य होगा, लेकिन उसे मतदान का अधिकार नहीं होगा।

जिला-परिषद् अपने सदस्यो में से अपना प्रमुख और उपप्रमुख चुनेगी। इनका चुनाव सदस्यो के मनोनयन होने के बाद गुप्त मतदान द्वारा किया जायगा। ज़िला-परिषद् का कार्य-काल तीन साल रहेगा और लोक-सभा व राज्य-सभा के सदस्यो के लिए यह नियम रहेगा कि वे जब तक ससद् के सदस्य हैं, तभी तक जिला-परिषद् के पदेन सदस्य हो। ससद् सदस्यता समाप्त होते ही उनकी यह सदस्यता भी समाप्त हो जाएगी।

ज़िला-परिषद् को विभिन्न कार्यों के लिए अपनी उपसमितियां बनाने का अधिकार होगा। ज़िला-परिषद् सरकार के किसी भी विभाग के ज़िले के अधिकारी को अपनी बैठक में बुला सकेगी। अधिकार दिया गया है कि ज़िला-परिषद् अपने तीन-चौथाई बहुमत से प्रस्ताव स्वीकार करके सरकार से जिला-परिषद् के सचिव के तबादले की मांग कर सके। सचिव सरकार द्वारा नियुक्त राज्य-कर्मचारी होगा।

जिला-परिषद् को सचिव से रिकार्ड मांगने का अधिकार होगा। वह पंचायत-समिति के बजट की जांच कर सकेगी। राज्य-सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायता पचायत-समितियों मे बाँट सकेगी। पंचायत-समितियों द्वारा तैयार की गयी योजनाओं और उनके कार्य-कलाप में समन्वय कर सकेंगी।

ज़िला-परिषद् का प्रमुख, सचिव और अन्य कर्मचारियों के काम-काज पर प्रशासनिक नियन्त्रण रखेगा और पंचायतों में उत्साह और

पंचायतों में उत्साह और पहल की भावना कायम करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा एवं सरकारी स्वेच्छिक संगठनों के विकास और उनके द्वारा किए जाने वाले उत्पादन कार्यक्रमों में उनको सलाह भी देगा।

राज्य-सरकार हर जिला-परिषद् के लिए एक सचिव नियुक्त करेगी जो राज्य-सेवा से सम्बन्धित व्यक्ति होगा। यह नियुक्ति सामान्यतः जिला-परिषद् के प्रमुख की सलाह से होगी और विशेष स्थिति में जिला-परिषद् के कुछ सदस्यों के तीन-चार बहुमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव से होगी।

प्रश्न

१. प्राचीन-भारत में ग्राम-पंचायत का विचार किस रूप में पाया जाता है?

२. पंचायत-राज का वर्तमान रूप क्या है?

३. ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत तथा पंचायती-अदालत क्या हैं?

८

भारत की निर्धनता—कारण तथा निवारण

(INDIAN POVERTY—CAUSES AND REMEDIES)

१. निर्धनता

जब धन नही था, तब धनी-निर्धन का भेद भी नहीं था। आदि-काल मे तो वस्तुओ को जोड़कर रखने की भी ज़रूरत नही थी। धीरे-धीरे बुरे वक्त के लिए जोडने की भावना उत्पन्न हुई, और इसके साथ ही सम्पन्न और असम्पन्न का भेद उत्पन्न हुआ। युरोप में 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) के समय यही भेद मालिक और गुलाम का रूप धारण कर गया, और औद्योगिक-क्रान्ति के बाद जब भूमि के स्वामित्व के बिना भी व्यक्ति धन का मालिक बनने लगा, जिनके पास ज़मीन नही थी वे भी कल-कारखाने खड़े करके रुपये-पैसे वाले हो गए, तब उन लोगों को जो असम्पन्न थे, जो पहले कभी सामन्त-युग में गुलाम कहे जाते थे, अब मजदूर कहा जाने लगा। पूँजीवाद के युग में दो वर्ग बड़े स्पष्ट रूप में समाज के सामने आ गये—एक पूँजीपति थे, दूसरे पूँजी-विहीन थे। इस समय धनी-निर्धन का भेद अत्यन्त स्पष्ट हो गया, और समाज में ये दो श्रेणियाँ बन गईं।

धनी तथा निर्धन सापेक्षिक शब्द हैं। जिसे हम धनी समझते हैं वह दूसरे की अपेक्षा अपने को निर्धन समझता है, जिसे हम निर्धन कहते हैं वह दूसरे की अपेक्षा धनी होता है। परन्तु फिर भी निर्धनता की परिभाषा की जा सकती है। निर्धनता मनुष्य की उस अवस्था का नाम है, जिसमें आमदनी की कमी या फ़िज़ूलखर्ची से, वह अपनी तथा अपने आश्रितों की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अपने उस स्तर को कायम नहीं रख सकता, जिसकी समाज के दूसरे लोग उससे आशा रखते हैं। अपनी दृष्टि में तो हर-एक अपनी अक्ल और दूसरे का धन अधिक समझता है। निर्धनता की असली परख यह है कि दूसरे भी यह समझें कि जो स्तर इसका होना चाहिए, वह नहीं है। हर-एक देश का अपना-अपना स्तर है, अपनी-अपनी वह रेखा है जिससे ऊपर के लोग धनी गिने जाते हैं, जिससे नीचे के लोग निर्धन गिने जाते हैं। अमरीका के स्तर के अनुसार जिसे निर्धन कहा जायगा, भारत के स्तर के अनुसार उसे धनी कहा जायगा, भारत के स्तर के अनुसार जिसे धनी कहा जायगा, अमरीका के स्तर के अनुसार उसे निर्धन कहा जायगा। निर्धनों की समस्या उन लोगों की समस्या है जो व्यक्ति की अपनी दृष्टि के अनुसार नहीं, अपितु समाज की दृष्टि में जीवन के स्तर को कायम नहीं रख सकते।

२. भारत की निर्धनता

भारत संसार का सबसे निर्धन देश है। दाने-दाने को सही अर्थों में तरसने वाले व्यक्ति इसी देश में पाये जाते हैं। तन-बदन पर कपड़ा नहीं, रहने को झोंपड़ी तक नहीं, सड़क पर रात बिता देते हैं, बीमारी हुई तो मर जाने के सिवाय छुटकारा नहीं—ऐसे व्यक्ति अपने देश में हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि भारत की राष्ट्रीय-आय १९४८-४९ में ८६५० करोड़, १९४९-५० में ९०१० करोड़, १९५०-५१ में ९५३० करोड़, १९५१-५२ में ९९९० करोड़, १९५२-५३ में ९८६० करोड़

और १९५३-५४ में १०६०० करोड़ कूती गई है। यह आमदनी ३६ करोड़ जनसंख्या की है, इसलिए इस समय २६७·४ रुपया प्रति व्यक्ति आमदनी है—इस देश में। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारे देश में प्रति व्यक्ति २२-२३ रुपया मासिक आमदनी है। यह आमदनी तब है जब लाखों-करोड़ों रुपया कमाने वाले पूँजीपतियों की आमदनी को इसमें शामिल कर लिया जाय। अगर उस आमदनी को इसमें से निकालकर सिर्फ़ मध्यम-वर्ग की आमदनी का हिसाब लगाया जाय, तो वह तो बहुत ही कम बैठती है। १९५०-५१ में भारत-सरकार ने कृषि तथा मजदूरी करने वाले वर्ग की आमदनी की जाँच करने के लिए जो कमेटी बनाई थी उसके अनुसार इस वर्ग की औसत आय सिर्फ़ १०४ रु० वार्षिक या ८॥ रु० मासिक के लगभग बैठती है। इतनी आय से किसका गुज़र हो सकता है?

३. भारत की निर्धनता के कारण

(क) **अंग्रेजों की आर्थिक-नीति**—जब तक अंग्रेज़ यहाँ रहे तब तक भारत की निर्धनता का मुख्य-कारण अंग्रेजो की आर्थिक-नीति रहा। अंग्रेज़ों की आर्थिक-नीति भारत के हित में न होकर सदा अपने हित में रही। उन्होंने बाहर के व्यापार पर रोक-थाम करने और देश के भीतर के व्यापार को प्रोत्साहन देने का कोई काम नहीं किया। अंग्रेज़ी माल यहाँ बने माल से यहाँ सस्ता बिकता रहा। व्यापार के सम्बन्ध में उन्होने 'न्यूनतम-हस्तक्षेप' की नीति को अपनाया और बाहर का माल यहाँ धड़ाधड आता रहा। मुकाबिले में भारत का बना माल टिक न सका। 'न्यूनतम-हस्तक्षेप' के अतिरिक्त पौंड और रुपये की 'विनिमय-दर' ऐसी रखी जाती रही जिससे भारत को सदा नुकसान और अंग्रेज़ों को सदा नफ़ा होता रहा।

ब्रिटिश-काल में भारत के अर्थ-शास्त्रियों तथा अंग्रेज़-शासकों में यहाँ की निर्धनता के विषय में सदा एक विवाद चला करता था। भारत के अर्थशास्त्री कहा करते थे कि जब से अंग्रेज़ आये तब से इस देश की

निर्धनता बढ़ी, अंग्रेज कहा करते थे कि भारत पिछले दो हजार साल से निर्धन-देश रहा है, इसकी निर्धनता का मुख्य-कारण यहाँ की बढ़ती हुई जन-संख्या है। इस सिलसिले में दादा भाई नौरोजी का कहना था कि तुम इस देश का रुपया तो सब इङ्गलैण्ड में खींचते चले जाते हो, यहाँ पूँजी बनने नहीं दे रहे, और जन-संख्या की बेकार दुहाई दे रहे हो। अगर देश का रुपया देश में रहने दिया जाय, तो पूँजी बने, और पूँजी बनकर कल-कारखाने खुलें, व्यापार बढ़े, 'राष्ट्रीय-आय' बढ़े। फ़िलहाल तो देश की अधिक जन-संख्या कल-कारखाने ही चलाने के लिये ज़रूरी है। दादा भाई नौरोजी तथा अन्य अर्थ-शास्त्रियों का यह भी कहना था कि देश की निर्धनता का एक कारण 'होम-चार्जेज़' है। भारत का शासन लण्डन से होता था। उस सम्पूर्ण-शासन के लिये भारत को पैसा देना होता था। अंग्रेज़ो को पेंशन हम देते थे। इन मदों में करोड़ों रुपया यहाँ से सूँत लिया जाता था। अंग्रेज़ बड़ी भारी फ़ौज रखते थे। भारतीय-आय का बडा भाग सैनिक-व्यवस्था पर खर्च कर दिया जाता था। अब ये सब बातें पुरानी हो गई हैं, परन्तु भारतीय-निर्धनता पर विचार करते हुए इन सबको दोहराना आवश्यक हो जाता है।

(ख) पूँजी निर्माण की कम दर—जैसा हमने अभी कहा, भारत में पूँजी का निर्माण उस दर से नहीं होने दिया गया जैसा अन्य देशों में हुआ। रुपये को तो रुपया पैदा करता है। जिस देश के लोग भर-पेट भोजन न पा रहे हों, तन-बदन ढकने को जिनके पास कपड़ा न हो, वहाँ वे क्या खायेंगे और क्या बचायेंगे। पूँजी तो बचत का नाम है। जब चालू खर्च के लिए ही काफ़ी नहीं, तो बचेगा क्या? ऐसी हालत में देश में पूँजी का निर्माण न हो सकना स्वाभाविक है, और पूँजी के निर्माण न हो सकने से व्यापार-उद्योग-धन्धे उस पैमाने में नहीं खड़े हो सके जिस पैमाने में होने चाहिए थे। धन तो व्यापार-उद्योग से बढ़ता है, वह न हुआ तो देश को निर्धन होना ही था। इसका यह मतलब नहीं कि अपने देश में पूँजी बनती ही नहीं रही। बनती रही है, परन्तु

जिस मात्रा में पूँजी बनती रही है उसी मात्रा में ही तो उस पूँजी का व्यापार-धन्धे में विनियोग होगा। जब पूँजी ही कम बढ़ी तब उसका विनियोग भी तो कम ही होगा।

(ग) अनुत्पादक संचय—जो-कुछ पूँजी बनती भी रही, अपने देश में उसे या तो जमीन में गाड रखने की प्रवृत्ति रही, या हम उसके सोने-चाँदी के जेवर बना देते रहे। हमारा जो-कुछ भी पूँजी का संचय रहा वह उत्पादक-कार्यों में लगने के स्थान में अनुत्पादक-कार्यों में लगता रहा। 'इकोनोमिक जनरल' ने दिसम्बर १९२९ में लिखा था कि इस देश का लगभग ७९८ करोड रुपया सोने-चाँदी के जेवरों में बन्द है।

(घ) प्राथमिक-उद्योगों पर निर्भरता—कारवर महोदय ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकौनोमी' में धन-उत्पादन करने के साधनो पर विचार करते हुए उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—प्रथम श्रेणी के 'प्राथमिक-उद्योग' (Primary industries); द्वितीय-श्रेणी के 'माध्यमिक-उद्योग' (Secondary industries); तृतीय श्रेणी के 'वैयक्तिक तथा धन्धे-सम्बन्धी कार्य' (Tertiary, personal and professional services)। 'प्रथम-श्रेणी' के उद्योग फिर दो तरह के होते है। एक तो वे जिनमें हम कुछ पैदा करते हैं—जैसे खेती करना, मछली-मुर्गी आदि पालना। दूसरे वे जिनमें हम पैदा तो नहीं करते, परन्तु जो बने-बनाये हमें मिल जाते हैं—जैसे शिकार कर लाना, लकड़ी काट लाना। 'द्वितीय-श्रेणी' के उद्योग वे हैं जिनमें हम कोई उद्योग जारी करते हैं। जैसे व्यापार करना, कल-कारखाना लगाना, यातायात के साधन, बैंक चलाना, मकान बनाना। 'तृतीय-श्रेणी' के उद्योग वे हैं जिनमे हम वैयक्तिक तौर पर कोई धन्धा करते हैं—डाक्टरी का पेशा, अध्यापकी, दुकान या सरकारी नौकरी आदि। ये 'सेवा-कार्य' (Services) कहलाते हैं। यह मोटी बात है कि किसी देश की जितनी जन-संख्या 'माध्यमिक-उद्योगों' तथा 'सेवाओं' में लगी होगी उतनी ही देश की 'राष्ट्रीय-आय' बढ़ेगी। अन्य देशों में आधी के लगभग जन-संख्या

'माध्यमिक-उद्योगों', अर्थात् व्यापार आदि में लगी हुई है, भारत की अधिकांश जन-संख्या 'प्राथमिक-उद्योगों' अर्थात् कृषि आदि में लगी हुई है। अपने देश की निर्धनता का यही मुख्य कारण है। हमारा देश मुख्य तौर पर कृषि-प्रधान है, अतः प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना में तो उन साधनों की तरफ़ ध्यान दिया गया था जिनसे कृषि की वृद्धि तथा व्यवस्था हो सकती है। प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना का लक्ष्य 'राष्ट्रीय-आय' को ११ प्रतिशत बढ़ा देना था। योजना के अन्त में वह ११ की जगह १८ प्रतिशत बढी। अब द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना में अधिक ध्यान कृषि के स्थान में द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी, अर्थात् उद्योग तथा धन्धों की तरफ़ दिया गया है जिससे 'राष्ट्रीय-आय' में २५ प्रतिशत वृद्धि की आशा की जा रही है।

(ङ) **जन-संख्या की वृद्धि**—भारत की जन-संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। १८५० में इस देश की जन-संख्या १० करोड के लगभग थी। यह अंग्रेज़ों का कहना है, हो सकता है ज्यादा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आजकल के मुकाबिले में बहुत कम थी। १९५१ में हमारी जन-संख्या ३६ करोड १८ लाख हो गई। सौ साल मे बढ़ी हुई २६ करोड़ जन-सख्या के लिए ज़मीन फैलने के बजाय सिकुड़ गई। १९४७ में देश के विभाजन के बाद जन-संख्या बढ गई, ज़मीन कम हो गई। अपने देश में जन-संख्या की वृद्धि का अनुपात १.८ प्रतिशत प्रतिवर्ष है। इसका यह अर्थ है कि हर वर्ष इस देश में ७० लाख व्यक्ति बढ जाते हैं। ऐसी हालत में ज़मीन हमारी जन-संख्या के बोझ को नहीं सँभाल पा रही और इसलिये निर्धनता का बढ़ना स्वाभाविक हो गया है।

(च) **कार्य-क्षमता की कमी**—अपने देश में निम्न-वर्ग के व्यक्तियों को खाने को पूरा नही मिलता। श्रमी-वर्ग मेहनत करता है, परन्तु घी-दूध नहीं पाता। वनस्पति-घी और चाय के बल पर कहाँ तक दिन-रात एक कर के मेहनत की जा सकती है। जब कोई पौष्टिक पदार्थ खाने को नहीं मिलता तब आधा काम ही तो किया जा सकता है। हर क्षेत्र में यही

समस्या है। पौष्टिक-भोजन न पा सकने के कारण श्रमी पूरा काम नहीं कर पाते। जब श्रमी-वर्ग पूरा काम नही करेगा तब 'राष्ट्रीय-आय' कैसे बढ़ेगी ? 'राष्ट्रीय-आय' न बढने का एक कारण श्रमी-वर्ग की कार्य-क्षमता का गिर जाना है। अन्य देशो के श्रमी हमारे श्रमियों से ज्यादा काम कर सकते हैं क्योकि पौष्टिक-भोजन खाने के कारण उनका शरीर बलिष्ठ होता है।

(छ) पूंजीवादी व्यवस्था—अपने देश में पूंजीवादी-व्यवस्था अभी तक चल रही है। यद्यपि हमने 'समाजवादी-समाज' बनाने की घोषणा कर दी है, तो भी अभी सिलसिला तो वही पुराना चल रहा है। अभी तक उत्पादन के साधनों पर राज्य का प्रभुत्व नहीं, पूंजीपतियों का ही प्रभुत्व है, राज्य का प्रभुत्व धीरे-धीरे हो रहा है। ऐसी आर्थिक-व्यवस्था में यह स्वाभाविक है कि मुनाफे का अधिक भाग पूंजीपति ले जायें और अधिक संख्या गरीबों की रह जाय। वैसा अभी तक हो रहा है।

४. निर्धनता के निवारण के उपाय

जब से देश स्वतन्त्र हुआ है तब से भारत-सरकार का ध्यान देश की निर्धनता को दूर करने की ओर विशेष रूप से गया है। निर्धनता को दूर करने के लिये भारत-सरकार ने पहले प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना (१९५१-१९५५) चलाई, फिर द्वितीय-पच-वर्षीय-योजना (१९५६–१९६१) चलाई, इसके बाद तृतीय-पच-वर्षीय-योजना चलेगी। आर्थिक-क्षेत्र में पहले भारत-सरकार ने ६ अप्रैल १९४८ को एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें अपनी औद्योगिक-नीति को स्पष्ट किया गया था। उसके बाद ३० अप्रैल १९५६ को एक नया प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमें पिछले अनुभव के प्रकाश में अपनी औद्योगिक-नीति को नए सिरे से रखा गया है। भारत-सरकार के ये सब कार्य देश की निर्धनता को दूर करने के लिए हैं। इस प्रकार प्रथम-योजना, द्वितीय-योजना, औद्योगिक-नीति का प्रथम-प्रस्ताव तथा द्वितीय-प्रस्ताव—ये चार बातें हैं जिनका भारत

की निर्धनता के निवारण के विषय में विचार करते हुए काम लेना आवश्यक है। हम इन चारों का यहाँ संक्षेप से वर्णन करेंगे :—

(क) प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना—अगर देश की आर्थिक-उन्नति को बिना किसी हस्तक्षेप के छोड दिया जाय, व्यक्ति को पूरी-पूरी स्वतंत्रता दे दी जाय, तो जो हालत हो सकती है वह दुनियाँ में अब तक होती रही है। कुछ लोग अपने परिश्रम से आगे निकल गए, पूँजीपति बन गए, कुछ इस जद्दोजहद में पीछे रह गए। अर्थशास्त्र के 'प्रतिस्पर्धा' के नियम से धनी-निर्धन वर्ग उत्पन्न हो गया, मालिक-मजदूर वर्ग बन गया। मज़दूरों को जब साथ-साथ रहना पड़ा, तब अपनी अवस्था की तरफ उनका ध्यान गया, उन्होंने संगठन बनाये, अपने अधिकारों के लिये उन्होंने हड़तालें करनी शुरू की। मजदूरों के साथ सुलह किये बग़ैर पूँजीपतियो का काम नही चलता इसलिये कुछ ये झुके, कुछ वे झुके। यह तो आर्थिक-विकास का एक तरीका है। दूसरा तरीका है 'योजना' बनाकर आर्थिक-व्यवस्था को राज्य द्वारा चलाना। जो देश आर्थिक-व्यवस्था में बहुत पिछड़े हुए हैं उनके लिए अपने भाग्य को व्यक्ति पर छोड देना अब संभव नहीं रहा। इस प्रकार वे अपने को छोड़ देंगे, तो फिर पूँजीवादी-व्यवस्था के बजाय वहाँ और कुछ न हो सकेगा। इन पिछड़े देशों ने 'योजना-पद्धति' का आश्रय लिया है। १९२८ में सबसे पहले रूस ने इस प्रकार की 'पंच-वर्षीय' योजना बनाई। रूस ने उसके बाद कई 'पंच-वर्षीय-योजनाएँ' बनाईं, और इनके द्वारा उसने आश्चर्यजनक उन्नति की। दूसरे देशों ने भी जहाँ कम्यूनिज्म चल रहा है इसी प्रकार की 'पंच-वर्षीय-योजनाएँ' या 'षट्-वर्षीय-योजनाएँ' बनाईं।

जहां राज्य की तरफ़ से कोई हस्तक्षेप नहीं था, व्यक्ति को स्वतंत्र-विकास के लिए 'न्यूनतम हस्तक्षेप' (Laissez-faire) के सिद्धान्त के अनुसार छोड दिया गया था, वहाँ 'राष्ट्रीय-आय' में उस प्रकार वार्षिक वृद्धि नहीं हुई जैसी वृद्धि वहाँ हुई जहाँ राज्य द्वारा 'योजना-पद्धति' को अपनाया गया। निम्न आँकडों से यह बात अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है:—

न्यूनतम-हस्तक्षेप से वैयक्तिक-स्वतन्त्रता पर चलने वाले देश

देश	समय	'राष्ट्रीय-आय' में वृद्धि
१. अमरीका	१८६६ से १६५०	३.२ से ३ प्रतिशत
२. कनाडा	१६०३ से १६२६	२.६ प्रतिशत
३. स्विटजरलैण्ड	१८६० से १६२६	२.७ प्रतिशत
४. आस्ट्रेलिया	१६०१ से १६४८	२.५ प्रतिशत

राज्य के हस्तक्षेप से योजना पर चलने वाले क्षेत्र

देश	समय	'राष्ट्रीय-आय' में वृद्धि
१. रूस	१६२८ से १६५३	पहले १५ फिर १६%
२. पोलैण्ड	१६४७ से १६५३	१४.५ प्रतिशत
३. चैकोस्लोवाकिया	१६४८ से १६५३	१२ प्रतिशत
४. हंगरी	१६५२ से १६५३	१२ प्रतिशत
५. बल्गेरिया	१६५२ से १६५३	१६ प्रतिशत
६. भारत	१६५१ से १६५६	१८ प्रतिशत

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भारत ने भी अपनी 'पंच-वर्षीय-योजना' बनाई। १६५० में 'प्लैनिंग-कमीशन' बनाया गया और १६५१ से १६५६ की 'प्रथम-पच-वर्षीय-योजना' की नीव रखी गई। इस योजना के पूरे होने पर 'राष्ट्रीय-आय' ११ प्रतिशत बढ जाने का अनुमान लगाया गया था, परन्तु योजना के अन्तिम वर्ष में हिसाब लगाने पर ज्ञात हुआ कि 'राष्ट्रीय-आय' ११ की जगह १८ प्रतिशत बढ़ गई थी। १६५१–५६ की 'प्रथम-पच-वर्षीय-योजना' के अन्त में अनाज के उत्पादन में १४ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था, वह १४ की जगह २० प्रतिशत बढा। तिलहन में ८ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था, वह ८ ही प्रनिशत बढा। कपास में 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के अन्त में ४४ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था, वह ४५ प्रतिशत बढ़ी। योजना के प्रारम्भ में ३२६ मिलियन एकड़ भूमि में अनाज पैदा हुआ था, १६५४–५५ में ३५२ मिलियन एकड़ भूमि में

अनाज पैदा हुआ। नहरों से, बंजर भूमि को तोड़ने से अनाज पैदा करने लायक भूमि इतनी अधिक बढ़ा ली गई। यह तो 'कृषि-सम्बन्धी-उत्पादन' (Agricultural production) की बात है, 'औद्योगिक-उत्पादन' (Industrial production) में १९५१ की अपेक्षा १९५५ में २२ प्रतिशत वृद्धि हो गई। १९५०–५१ में देश में ६५७५ मिलियन किलोवाट बिजली पैदा होती थी, १९५५–५६ में वह बढ़कर ११००० मिलियन किलोवाट हो गई। सीमेंट का उत्पादन १९५०–५१ में २.७ मिलियन टन था, वह १९५५–५६ में ४.३ मिलियन टन हो गया।

इस प्रकार हमारी 'राष्ट्रीय-आय' (National income) तो 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के अन्त में १८ प्रतिशत बढ़ी, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारी निर्धनता दूर हो गई। इतना सब-कुछ कर चुकने पर भी हमारा जीवन-स्तर संसार में सबसे नीचा है। हमारे देश में लोगों को भोजन की वह मात्रा नहीं मिलती जो स्वास्थ्य कायम रखने के लिए एक मनुष्य को मिलनी चाहिए। १९५५–५६ में प्रति व्यक्ति १६ गज कपडा पैदा हो रहा था जो बिलकुल अपर्याप्त है। अभी तक ६ से ११ वर्ष के ५० प्रतिशत बच्चे स्कूलों की शिक्षा से लाभ उठा रहे हैं, और ११ से १४ वर्ष के बच्चों में से पांचवें हिस्से से भी कम बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। देश की आधी जनसंख्या की आमदनी १३ रुपया मासिक भी नहीं है। अमरीका की अपेक्षा हमारे यहाँ प्रति-व्यक्ति बिजली का खर्च $\frac{१}{७३}$ तथा लोहे का खर्च $\frac{१}{१२२}$ है, जापान की अपेक्षा हमारे यहाँ बिजली और लोहे का खर्च क्रमशः $\frac{१}{२}$ तथा $\frac{१}{१४}$ है। इससे स्पष्ट है कि अभी हमें अपने देश की निर्धनता को दूर करने के लिये कितने अधिक प्रयास की और कितनी ही 'पंच-वर्षीय-योजनाओं' की आवश्यकता होगी।

(ख) **द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना**—'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के १९५६ में समाप्त होने के बाद, भारत सरकार ने 'द्वितीय-पंच-वर्षीय-

योजना' का कार्यक्रम तैयार किया। 'प्रथम-पंच-वर्षीय योजना' तथा 'द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना' में आधार-भूत भेद क्या है ?

पहली योजना का मुख्य-उद्देश्य देश की 'कृषि-सम्बन्धी' (Agricultural) अवस्था को उन्नत करना था, इसलिए योजना पर जितना रुपया लगाया जाना था उसका १६ प्रतिशत कृषि और सामुदायिक-विकास, १७ प्रतिशत सिंचाई आदि पर व्यय किया गया। द्वितीय-योजना का मुख्य-उद्देश्य देश की 'उद्योग-सम्बन्धी' (Industrial) अवस्था को उन्नत करना है, इसलिए योजना पर किये जाने वाले व्यय का १६ प्रतिशत उद्योग तथा खनिज पर और २६ प्रतिशत परिवहन तथा संचार पर व्यय किये जाने का विचार है। इसका यह अभिप्राय नही कि प्रथम योजना से उद्योग पर व्यय नही किया गया, या द्वितीय में कृषि पर व्यय नहीं किया जायगा। अभिप्राय इतना ही है कि प्रथम योजना की अपेक्षा द्वितीय में व्यय का मुख्य-बिन्दु 'कृषि' की जगह 'उद्योग' हो गया। ऐसा क्यों किया गया—इसका एक कारण है। हम इसी अध्याय मे पीछे कह आये हैं कि अर्थोपार्जन के तीन साधन होते हैं—'प्रथम-श्रेणी' के (Primary), 'द्वितीय-श्रेणी' के (Secondary) तथा 'तृतीय-श्रेणी' के (Tertiary)। इनमे से प्रथम-श्रेणी के साधन कृषि आदि है, द्वितीय-श्रेणी के साधन उद्योग आदि हैं, तृतीय-श्रेणी के साधन देश के धंधे, विविध-सेवाएँ हैं। आर्थिक-उन्नति का नियम है कि देश की अधिक जन-संख्या 'प्रथम-श्रेणी' के साधनों के स्थान मे 'द्वितीय' तथा 'तृतीय-श्रेणी' के साधनों मे लगी हो। अभी अपने देश की हालत यह है कि हमारी श्रम-शक्ति का ७२·४ प्रतिशत हिस्सा कृषि में लगा हुआ है, देश की श्रम-शक्ति का १०·६ प्रतिशत हिस्सा कल-कारखानों तथा छोटे-छोटे धंधों में लगा हुआ है, ७·७ प्रतिशत व्यापार में और ६ प्रतिशत यातायात तथा सेवा-कार्यों में लगा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'प्रथम-श्रेणी' के कार्यों में—कृषि आदि में—इतनी अधिक श्रम-शक्ति लगी हुई है कि प्रायः सारी श्रम-शक्ति इसी मे खप गई है।

निर्धनता को दूर करने का यह उपाय नहीं है। होना यह चाहिए कि हम कृषि-संबंधी आधुनिक-यन्त्रों की सहायता से थोड़े आदमियों से काम लें, और इस बची हुई जन-संख्या को उद्योग के क्षेत्र में भेजें। आधुनिक-यन्त्रों के द्वारा अब से आधी श्रम-शक्ति कृषि का उतना ही कार्य कर सकती है जितना अब ७२'४ प्रतिशत श्रम-शक्ति करती है। इस बची हुई श्रम-शक्ति को कृषि के क्षेत्र से निकाल कर उद्योग के क्षेत्र में डाल देने की आवश्यकता है। जिन देशों ने आर्थिक-उन्नति की है उन्होंने ऐसा ही किया है। उन देशों में कृषि में श्रम-शक्ति कम हो गई है, उद्योगों में बढ़ गई है। १८७० और १९३० के बीच में अमरीका में कृषि पर लगी हुई श्रम-शक्ति ५४ प्रतिशत से कम होकर २३ प्रतिशत रह गई, फ्रांस में ४२ प्रतिशत से कम होकर २५ प्रतिशत रह गई, जापान में ८५ प्रतिशत से कम होकर ५१ प्रतिशत हो गई। जर्मनी में १८८० में ३९ प्रतिशत श्रम-शक्ति कृषि पर लगी हुई थी जो १९३० में २२ प्रतिशत रह गई, इङ्गलैण्ड मे १८७० में १५ प्रतिशत श्रम-शक्ति कृषि पर लगी हुई थी जो १९२० में ७ प्रतिशत रह गई। इस समय अमरीका में वहाँ की आबादी की केवल १२ प्रतिशत सख्या खेती में लगी हुई है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि मे अधिक आदमी खपाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य कम-से-कम शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक पैदावार करना है। हम अपनी 'द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना' में श्रम-शक्ति को उद्योग-धंधों पर लगाने का प्रयत्न करेंगे क्योंकि 'प्रथम-श्रेणी' के अर्थोपार्जन के साधनों से देश उतना समृद्ध नहीं होता जितना 'द्वितीय' तथा 'तृतीय'-श्रेणी के अर्थोपार्जन के साधनों से समृद्ध होता है। प्रथम तथा द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना में पहला भेद तो यह है।

इन दोनों योजनाओं में दूसरा भेद यह है कि जहाँ 'प्रथम-योजना' मुख्यत: 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) को आधार बनाकर चलाई गई थी वहाँ 'द्वितीय-योजना' मुख्यतया 'समाजवादी ढाँचे के समाज' (Socialist pattern of society) को आधार बनाकर खड़ी की गई

है। 'कल्याण-राज्य' का यही अर्थ था कि देश का कल्याण हो, अधिक जन-संख्या गाँवों में बसती है, कृषि करती है, इसलिए गाँवों में सामुदायिक-योजनाएँ चलें, कृषि की उन्नति हो, नहरें बनें, सिंचाई हो। अब जब कि हम योजना के दूसरे चरण मे प्रवेश कर रहे हैं, और 'कृषि' के स्थान में 'उद्योग' को लक्ष्य बनाने लगे हैं, तब सबसे बड़ा सवाल यह पैदा हो जाता है कि उद्योगो से जो पूँजी बढेगी, धन आयगा, वह क्या कुछ-एक लोगों की पेटियो में जमा हो जायगा, या बँटेगा। इसीलिए उत्पादन का जोर उद्योग पर जाते ही यह तय करना भी आवश्यक हो गया कि हम अपने यहाँ पूँजीवाद को नही आने देंगे। कल-कारखाने बढेंगे, परन्तु इनका बढना देश की 'राष्ट्रीय-आय' को बढाकर कुछ-एक व्यक्तियो की आमदनी बढाना नही होगा, हर-एक की आमदनी बढाना होगा। हम सम्पत्ति बढायेगे, परन्तु साथ ही सम्पत्ति का समान वितरण भी करेंगे। इसीलिये 'द्वितीय-योजना' मे यह घोषित करना आवश्यक हो गया कि हम 'समाजवादी' समाज की रचना करेंगे।

(ग) ६ अप्रैल १९४८ का औद्योगिक-नीति का प्रस्ताव (Industrial Policy Resolution of 6th April, 1948)—स्वराज्य-प्राप्ति के बाद ६ अप्रैल १९४८ को भारत-सरकार ने अपनी औद्योगिक-नीति की घोषणा इस प्रस्ताव द्वारा की थी। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि सरकार यह चाहती है कि औद्योगिक-उत्पादन लगातार होता रहे और उत्पादन का न्याय-संगत वितरण भी साथ-साथ होता रहे। इसके अतिरिक्त इस प्रस्ताव मे यह भी कहा गया था कि देश के औद्योगिक-विकास में सरकार को भी पहले की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होना होगा। शस्त्रास्त्रों का निर्माण, अणु-शक्ति तथा रेलों के यातायात का तो सरकार के हाथ में एक-मात्र अधिकार होगा ही, साथ ही आधारभूत छः बुनियादी उद्योग भी सरकार ही चलायेगी। ये सरकारी उद्योग 'सार्वजनिक-क्षेत्र' (Public sector) के अन्तर्गत होंगे, और इनके अलावा जो उद्योग होंगे, वे 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) में गिने

आयेंगे। १९५५-५६ तक सरकार की यही घोषित नीति रही, परन्तु इस बीच बहुत-कुछ बदल गया। इस बीच १९४९ को भारत का विधान स्वीकृत हुआ जिसमें प्रत्येक नागरिक के कुछ 'आधारभूत-अधिकार' स्वीकृत किये गये, कुछ 'प्रेरक-सिद्धान्त' स्वीकृत किये गए। इनमें कहा गया था कि राष्ट्र की भौतिक-सम्पत्ति पर अधिकार या स्वामित्व इस प्रकार बँटा हुआ होना चाहिए जिससे किसी एक का भला न होकर सबका भला हो; राष्ट्र का आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का नहीं होना चाहिए जिससे उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति एक जगह इस प्रकार केन्द्रित हो जाँय कि उससे दूसरो का नुक्सान होने लगे। इन विचारों का परिणाम यह हुआ कि दिसम्बर १९५४ को भारतीय पार्लियामेंट ने 'समाजवादी ढाँचे के समाज' (Socialist pattern of society) का निर्माण अपना लक्ष्य घोषित कर दिया। १९५६-६१ के लिये 'प्लैनिंग-कमीशन' ने जो योजना तैयार की उसमे इसी लक्ष्य को आधार बनाया गया। इन सब परिवर्तनो का परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार को ६ अप्रैल १९४८ के अपने औद्योगिक-नीति के प्रस्ताव को बदलना पड़ा। परिणामस्वरूप ३० अप्रैल १९५६ को भारत-सरकार ने अपनी 'औद्योगिक-नीति' के प्रस्ताव को दूसरा रूप दिया। वह रूप क्या था ?

(घ) ३० अप्रैल १९५६ का औद्योगिक-नीति का प्रस्ताव—(Industrial Policy Resolution of 30th April, 1956)—६ अप्रैल १९४८ के प्रस्ताव में 'सार्वजनिक-क्षेत्र' की सीमा बहुत बंधी हुई थी, 'निजी-क्षेत्र' की सीमा बहुत विस्तृत थी। परन्तु जब हमारा उद्देश्य समाजवादी ढाँचा तैयार करना है, उत्पादन को कुछ-एक के हाथों में केन्द्रित न रहने देकर सब में वितरण करना है, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के स्तर को ऊँचा करना है, देश में से हर व्यक्ति की निर्धनता को मिटाना है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार भी व्यापार के क्षेत्र में उतर आये, और हर-एक ऐसे उद्योग को अपने हाथ में ले जिसे या तो 'निजी-क्षेत्र' के लोग

लाभ न होने से शुरू ही नहीं करते, या शुरू करते हैं तो उनका उस उद्योग पर इतना एकाधिकार हो जाता है कि मनमाना नफ़ा उठाने लगते हैं। भारत-सरकार ने यह देखकर कि द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना में देश का 'उद्योगीकरण' (Industrialization) आवश्यक है, इस प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा कर दी है कि अब सरकार भी उद्योगों को अपने हाथ में लेगी। उद्योगों को तीन श्रेणियो में बाँट दिया गया। प्रथम-श्रेणी उन उद्योगों की है जिन्हे सिर्फ़ सरकार चला सकेगी, अन्य कोई नही। इस श्रेणी में १७ बड़े-बडे उद्योग हैं। उदाहरणार्थ, शस्त्रास्त्र, अणु-शक्ति, लोहा, लोहे की भारी मशीनें, बिजली के भारी कारखाने, कोयला, खनिज-तेल, कच्चे लोहे, मैंगनीज़, गन्धक, सोना, हीरा आदि की खानें, ताँबा, जस्ता, टिन आदि की खानें और इनके सामान, हवाई जहाज, हवाई यातायात, रेलवे, जहाज़ बनाना, टैलीफ़ोन, बिजली पैदा करना और वितरण करना' आदि। यह सब सरकार ही कर सकेगी। द्वितीय-श्रेणी में वे उद्योग गिनाये गए हैं जिनमे धीरे-धीरे सरकार प्रवेश करेगी। उदाहरणार्थ, मशीन के पुर्ज़े बनाना, खाद, रबर, एण्टीबायोटिक औषधियाँ, सड़कों तथा समुद्र का यातायात आदि। इनकी संख्या १२ है। इनके अलावा जो बच रहेगा वह 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) में आ जायेगा, परन्तु सरकार इस बात के लिए बाधित नहीं है कि वह किस काम को हाथ में ले और किस को न ले।

बड़े धंधों के साथ-साथ इस औद्योगिक-नीति के अनुसार सरकार छोटे-छोटे धन्धों को भी प्रोत्साहन देगी। क्योंकि छोटे धन्धों से बेकारी कम होती है इसलिए इन छोटे धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार इन उद्योगों को आर्थिक-सहायता दे सकती है, बड़े उद्योगों के उत्पादन को इस प्रकार नियन्त्रित कर सकती है, जिससे इन छोटे धन्धों पर ऐसा असर न पड़े जिससे ये पनप ही न सकें, बड़े धन्धों की वस्तुओं की अपेक्षा छोटे धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार टैक्स की कमी भी

कर सकती है। परन्तु फिर भी सरकार की नीति यही रहेगी कि खुले बाज़ार में 'प्रतिस्पर्धा' के सिद्धान्त के अनुसार छोटे उद्योगों द्वारा पैदा किया हुआ माल बाज़ार में अपने बूते पर टिक सके, हर वक्त उसे सरकारी सहायता की ही जरूरत न पडती रहे।

इस प्रकार हमने देखा कि निर्धनता क्या है, और खासकर भारत-सरकार इस प्रश्न को 'पंच-वर्षीय-योजनाओं' तथा अपनी 'औद्योगिक-नीति' द्वारा किस प्रकार हल कर रही है।

प्रश्न

१. भारत की प्रति-व्यक्ति आय क्या है ?
२. भारत की निर्धनता के क्या कारण हैं ?
३. भारत की निर्धनता के निवारण के लिए भारत-सरकार जो उपाय कर रही है उनका वर्णन कीजिये।
४. प्रथम तथा द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में आधार-भूत भेद क्या है ?
५. ६ अप्रैल १९४८ तथा ३० अप्रैल १९५६ के भारत-सरकार की औद्योगिक-नीति के प्रस्ताव क्या है और इन दोनों में आधार-भूत भेद क्या है ?

९

भारत में आयोजन

(PLANNING IN INDIA)

१. आयोजन की आवश्यकता

किसी काम को करने के दो तरीके हैं। एक तो जैसे-तैसे अट-सट उसे करते जाना। जो चीज़ सामने आई उसे करने लगना, करते-करते दूसरी सामने आगई, तो पहली को छोडकर दूसरी पर जुट जाना। यह रास्ता काम को बेतरतीबी से करने का है। इसमें सब काम अधूरे रह जाते हैं, जो पूरे भी होते हैं, वे साल की जगह पाँच साल ले जाते हैं। दूसरा तरीका हर काम को तरतीब से करने का है। जो काम करने हैं उनमे से सब से ज्यादा जरूरी कौन-सा है, उसे कितने समय में पूरा करना है, क्या-क्या साधन जुटाने हैं—इन सब पर विचार करके किसी तरतीब से, किसी योजना से जब काम किया जाता है, तब काम ढग से पूरे हो जाते हैं, थोडे समय मे पूरे हो जाते हैं।

जिस युग में से हम निकल कर चुके हैं उसमे लोगो का योजना की तरफ तो ध्यान था, परन्तु योजना होना-न-होना बराबर था। इसका कारण यह था कि योजना बनाना तथा उसे चलाना समाज के हाथ में न होकर व्यक्ति के हाथ मे था। यह पूँजीवाद का युग था, इसमें पूँजीपति ही निश्चय करता था कि क्या काम होना चाहिये, क्या नही

होना चाहिये, उसी के हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित थी। क्योकि जो काम होना था, पूँजी के बिना तो वह हो नही सकता था, इसलिये जिसमें पूँजीपति को अपनी पूँजी बढती दीखती थी उसी में वह हाथ लगाता था, जिसमें पूँजी बढ़ती नही दीखती थी, उसमे समाज का कितना ही भला क्यो न हो, पूँजीपति उधर देखता भी न था। पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद साथ-साथ रहने वाले भाई-बहन हैं, इसलिए पूँजी का विनियोग समाज के भले के लिये न होकर व्यक्ति के भले के लिये होता था। व्यक्ति—अर्थात् पूँजीपति ऐसे कामों में भी पूँजी लगाता था जिसमे समाज का कल्याण तो क्या, समाज का सरासर नुक्सान होता था। उदाहरणार्थ, चीन मे अफ़ीम का व्यापार करने के लिए अग्रेज़ व्यापारियो की करोडो रुपया पूँजी लगी रहती थी। वेश्याओ का व्यापार करने के लिये, शराब के कारखाने खोलने के लिये लाखो, करोडो रुपया पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद के युग में ही सभव था।

आज युग ने पलटा खाया है। आज यह समझा जाने लगा है कि योजना का कार्य व्यक्ति के हाथ मे न होकर समाज के हाथ में होना चाहिए, पूँजीपति के हाथ मे न होकर राष्ट्र के हाथ में होना चाहिये। व्यक्ति व्यक्ति के कल्याण की योजना तो बना सकता है, अपने भले की बात सोच सकता है, समाज के भले की नही सोच सकता। समाज तथा राष्ट्र ही ऐसी योजनाएँ बना सकते हैं जिनमे बेशक पैसे का नुक्सान हो, परन्तु समाज का कल्याण हो। समाज की शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, उत्तम-भोजन, गृह-व्यवस्था आदि पर पूँजीपति तो तभी तक पैसा खर्च करेगा जहाँ तक उसे इनमें अपना निजी लाभ दिखलाई देगा, उससे आगे वह एक कौडी खर्च नही करेगा, परन्तु समाज तथा राष्ट्र तो इन मदों पर खर्च-ही-खर्च क्यो न होता हो, क्योकि इन पर खर्च करने से समाज का भला होता है, इसलिये वे इन दिशाओ में जी खोल कर खर्च करते हैं। यही कारण है कि आज जो युग आ रहा है, उसमें योजना का

कार्य व्यक्ति अर्थात् पूँजीपति के हाथ से समाज अर्थात् राष्ट्र के हाथ में आता जा रहा है।

२. अन्य देशों में आयोजन

आजकल जो देश उन्नति करना चाहते हैं, वे कोई-न-कोई योजना बनाकर उसके अनुसार ४-५ साल का कार्य-क्रम बनाकर चलते हैं। इस दिशा में रूस ने १९२८ मे पहले-पहल पंच-वर्षीय-योजना बनाकर कार्य शुरू किया और उसके बाद अनेक पाँच-पाँच बरस की योजनाएँ बनाई। रूस की गिनती पिछडे हुए देशो में की जाती थी, परन्तु आज इन्ही योजनाओ के परिणाम-स्वरूप वह अमरीका से टक्कर ले रहा है।

निम्न आँकडों से स्पष्ट हो जायगा कि योजना बनाकर चलने वाले देश उन देशो से कितनी अधिक तरक्की थोडे ही समय में कर लेते हैं जिनमें कोई योजना बनाकर कार्य नही किया जा रहा। निम्न तुलना से स्पष्ट है कि योजना बनाकर चलने वाले रूस आदि मे बिना योजना के चलने वाले अमरीका आदि से राष्ट्रीय-आय मे उतने ही समय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई।

योजना बनाकर चलने वाले देश

देश	समय	राष्ट्रीय-आय में वृद्धि
१. रूस	१९२८ से १९५३	पहले १५ फिर १६%
२. पोलैंड	१९४४ से १९५३	१४.५ प्रतिशत
३. चौकोस्लोवाकिया	१९४८ से १९५३	१२ प्रतिशत
४. हंगरी	१९५२ से १९५३	१२ प्रतिशत
५. बल्गारिया	१९५२ से १९५३	१६ प्रतिशत
६. भारत	१९५१ से १९५६	१८ प्रतिशत

बिना योजना के चलने वाले देश

१. अमरीका	१८९९ से १९५०	३.२ से ३ प्रतिशत
२. कनाडा	१८९० से १९२९	२.६ प्रतिशत
३. स्विट्जरलैंड	१८९० से १९२९	२.७ प्रतिशत
४. ऑस्ट्रेलिया	१९०१ से १९४८	२.५ प्रतिशत

ऊपर जो आँकड़े दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि योजना बनाकर चलने वाले देशों की बिना योजना के चलने वाले देशों की अपेक्षा उन्नति की रफ्तार बहुत तेज होती है। यह सब सोच-विचार कर ही भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद योजना के मार्ग को अपनाया है।

३. भारत में आयोजन

१५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अपनी सरकार बनाई। देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिये भारत-सरकार ने एक प्रस्ताव द्वारा मार्च १९५० में 'योजना-आयोग' (Planning Commission) का सगठन किया। इस आयोग ने अप्रैल १९५१ से मार्च १९५६ तक के पाँच वर्षों के लिये भारत के चतुर्मुख विकास के लिये एक योजना बनाई। इस आयोग की सिफ़ारिशो पर केन्द्र की सरकार तथा प्रान्त की सरकारें विचार-विनिमय कर सकें, क्या बढाना है, क्या घटाना है—इस सब पर विचार हो सके, इस उद्देश्य से अगस्त १९५२ मे 'राष्ट्रीय-विकास-परिषद्' (National Development Council) की स्थापना की गई जिसमें भारत के प्रधान-मन्त्री तथा राज्य-सरकारो के सभी मुख्य-मन्त्री सदस्य-रूप मे भाग लेते हैं। 'योजना-आयोग' का सगठन, उसकी नीति का निर्धारण तो भारत-सरकार ने अपने मार्च १९५० के प्रस्ताव के अनुसार कर दिया, अब भारत-सरकार का प्रतिनिधित्व यह 'राष्ट्रीय-विस्तार-परिषद्' करती है, और समय-समय पर 'योजना-आयोग' के कार्य-क्रम पर यही परिषद् विचार करती है। 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' जब समाप्त हो गई, तब इस 'राष्ट्रीय-विकास-परिषद्' ने ही प्रथम-योजना के परिणामो पर

विचार-विनिमय किया, और योजना-आयोग को 'द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना' के मसविदे के बनाने का आदेश दिया।

'प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना' में क्या-क्या हुआ, 'द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना' में क्या-क्या होगा—इसका संक्षिप्त-सा परिचय यहाँ देना असगत न होगा।

(क) प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना—भारत का योजनाओं द्वारा जो पुनर्निर्माण हो रहा है उस सिलसले मे १९५५ मे हम पहली पँच-वर्षीय योजना को समाप्त कर चुके हैं, उसके बाद १९५६ से द्वितीय-पँच-वर्षीय योजना प्रारम्भ हुई है। इन दोनो योजनाओ मे सामाजिक-कल्याण की भावना को प्रधान रखा गया है।

पहली पँच-वर्षीय योजना का आधार 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) स्थापित करना था। 'India-1959' के अनुसार अपने देश की ३६ ६९ करोड जनता में से २९ ५० करोड गाँवो में बसती है। ये २९ ५० करोड देश की सारी जन-संख्या का ८२ ७ प्रतिशत है। ये ८२.७ प्रतिशत व्यक्ति ५ लाख गाँवो मे रहते हैं जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है। इसलिए 'कल्याण-राज्य' का यही अर्थ हो सकता था कि ऐसी योजना बनाई जाय जिससे गाँव में रहने वाली जनता का और कृषि का सुधार हो। इन्ही भावनाओ को सामने रखकर १९५१-५६ के लिए जो प्रथम योजना बनाई गई, उस पर निम्न व्यय किया गया :—

१.	कृषि और सामुदायिक विकास	३७२ करोड़—१६ प्रतिशत
२	सिंचाई और बाढों का नियंत्रण	३९५ करोड—१७ प्रतिशत
३.	बिजली	२६६ करोड—११ प्रतिशत
४	उद्योग और खनिज	१७९ करोड— ७ प्रतिशत
५	परिवहन और संचार	५५६ करोड—२४ प्रतिशत
५	समाज-सेवा, मकान और पुनर्वास	५४७ करोड—३२ प्रतिशत
७	विविध	४१ करोड़— २ प्रतिशत
	योग	२,३५६ करोड—१०० प्रतिशत

इस प्रकार कृषि तथा सामुदायिक-विकास पर ३७२ करोड़ रुपया खर्च किया गया जो सम्पूर्ण व्यय का १६ प्रतिशत था। 'सामुदायिक-विकास' (Community development) के अन्तर्गत 'सामुदायिक-योजना' (Community project) की स्कीम को प्रारम्भ किया गया जो 'सामाजिक-कल्याण' के लिए आवश्यक थी। अक्तूबर १९५२ में यह प्रोग्राम शुरू हुआ। प्रथम-पँच-वर्षीय योजना समाप्त होने तक १२०० 'विकास-क्षेत्रों' (Development blocks) में काम किया गया जिनमें से ३०० 'सामुदायिक-योजना-क्षेत्र' (Community project) के अन्तर्गत थे और ९०० 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-क्षेत्र' (National Extension Service) के अन्तर्गत थे। 'सामुदायिक-योजना-क्षेत्र' (Community Project Block) या 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-क्षेत्र' (National Extension Service Block) में भेद इतना ही है कि इनमें से पहली शुरू-शुरू में चली थी, दूसरी बाद में चली, पहली ज्यादा गहराई में जाती है, दूसरी उतनी गहराई मे नहीं जाती, पहली पर ज्यादा रुपया खर्च होता है, दूसरी पर कुछ कम खर्च होता है—वैसे कार्य-क्षेत्र दोनों का एक-सा है। ये दोनों ६०-७० हजार की आबादी के क्षेत्र मे जिसमे, लगभग १०० गाँव हों, १५० से १७० वर्ग-मील भूमि हो, चालू किये जाते हैं। इन क्षेत्रों में कृषि, परिवहन, सड़कें, शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोजगारी, गृह-समस्या तथा समाज-कल्याण के सब कार्य जनता के सहयोग तथा सरकार की सहायता से किये जाते हैं।

उक्त कार्य मुख्य तौर पर गाँव वालो की 'आर्थिक-स्थिति' सुधारने के लिए किये गए थे। उनकी 'सामाजिक तथा सास्कृतिक स्थिति' सुधारने के लिए प्रथम-पँच-वर्षीय योजना में ५४७ करोड़ रुपया समाज-सेवा, मकान तथा पुनर्वास के लिए अलग रखा गया था जिसमे ४ करोड रुपया समाज-कल्याण के लिए था। १२ अगस्त १९५३ को सरकार ने एक 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण बोर्ड (Central Social Welfare Board) बना दिया जिसकी अध्यक्षा श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख हुईं। जैसे 'सामु-

दायिक-विकास' योजना का काम गाँव में शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोजगारी, समाज-कल्याण आदि कार्य करना था, वैसे 'केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड' का काम भी समाज-कल्याण का कार्य करना ही है, परन्तु इसका कार्य-क्षेत्र अधिकतर स्त्रियों, बच्चो, अपंगो, अनाथो, विधवाओ आदि की समस्याओं को हल करना है। इस उद्देश्य से 'केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड' की देख-रेख में प्रान्तो में 'राज्य समाज-कल्याण सलाहकार-बोर्ड' (State Social Welfare Advisory Boards) बनाये गए हैं और इन बोर्डों के अन्तर्गत 'समाज-कल्याण-विस्तार-सेवा' (Welfare Extension Service) चालू की गई है। 'समाज-कल्याण-विस्तार-सेवा' तथा 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-क्षेत्र' में कहीं-कहीं दोनो का कार्य-क्षेत्र एक जा पड़ता है और दोहरा काम होने लगता है। इसे बचाने के लिए अब १९५७ से 'सामुदायिक-योजना-क्षेत्रों' के समाज-सेवा के कार्य—अर्थात् स्त्रियो, बच्चो, अपगो, अनाथो, विधवाओ आदि की समस्या का कार्य 'केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड' (Central Social Welfare Board) द्वारा ही होगा।

(ख) **द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना**—प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना का आधार 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) की स्थापना करना था, तो द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना का आधार 'समाजवादी-समाज' (Socialistic society) की स्थापना करना है। प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना पर २,३५६ करोड़ रुपया व्यय किया गया, तो द्वितीय पर ४,८०० करोड़ रुपया व्यय किया जा रहा है। प्रथम १९५१ से १९५६ तक चालू रही, द्वितीय १९५६ से १९६१ तक चालू रहेगी। द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना में प्रथम की अपेक्षा व्यय मे जो न्यूनाधिकता होगी वह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी—

योजना की मदें	पहली-योजना		दूसरी-योजना	
१. कृषि तथा सामुदायिक विकास	३७२ करोड़	१६ प्रतिशत	५६५ क०	१२ प्रतिशत
२. सिंचाई और बाढ़ों का नियन्त्रण	३६६ "	१७ "	४५८ "	६ "
३. बिजली	२६६ "	११ "	४४० "	६ "
४. उद्योग और खनिज	१७६ "	७ "	८६१ "	१६ "
५. परिवाहन और संचार	५५६ "	२४ "	१,३८४ "	२६ "
६. समाज-सेवा, मकान और पुनर्वास	५४७ "	२३ "	६४६ "	२० "
७. विविध	४१ "	२ "	११६ "	२ "
योग	२,३५६	१००	४,८००	१००

प्रथम पँच-वर्षीय-योजना मे देश के एक-चौथाई हिस्से में 'सामुदायिक योजनाएँ' तथा 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-क्षेत्र' चल रहे थे। द्वितीय योजना मे यह लक्ष्य रखा गया है कि समूचे देश में इन योजनाओ का जाल बिछा दिया जाय, और १९६१ के अन्त तक देश का कोई ग्रामीण-भाग ऐसा न रहे जिसे इन कल्याणकारी योजनाओ का लाभ न पहुँचे। पिछली योजना में जहाँ 'सामुदायिक-विकास' पर ३७२ करोड़ रुपया व्यय हुआ था, वहाँ इस योजना के अनुसार इस विकास पर ५६५ करोड़ रुपया व्यय होगा।

४. सामुदायिक-विकास-योजनाएँ (Community Development Projects)

जब सरकार देख लेती है कि किसी काम को जनता ने करना शुरू कर दिया है, तब समय बीतने तथा उस कार्य की उपयोगिता सिद्ध हो जाने पर सरकार भी उसे अपने हाथ में लेने लगती है। ग्रामों के पुनर्निर्माण का कार्य पहले-पहल जनता की तरफ से ही शुरू हुआ था।

इस कार्य की आवश्यकता और सफलता को देख कर सरकार ने भी इस काम में हाथ डाला। अगर सरकार का पहले का-सा अंग्रेजी ढर्रा ही रहता, तो शायद इस कार्य का श्रीगणेश न होता, परन्तु इस बीच १९३७ मे काग्रेसी सरकार सत्तारूढ हो गई थी। इन लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे ग्रामो के पुनर्निर्माण के कार्य को शुरू कर दिया। भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे निम्न कार्य हुआ—

(क) **बिहार**—बिहार मे १९३८ मे 'ग्राम-विकास-विभाग' (Rural Development Department) खोला गया। इस विभाग के अधीन आदर्श-केन्द्र स्थापित किये गए। एक-एक केन्द्र में २० से ३० गाँव थे। इस विभाग का उद्देश्य छोटे-छोटे गृहोद्योगो को जारी करना था। उदाहरणार्थ, गाँव में खड्डियाँ लगाना, तेल की घाणी चलवाना, औषधियाँ वितरण करना, ग्राम के स्वास्थ्य की देख-भाल, ग्राम की पँचायत का सगठन भी यही विभाग करता था। इस विभाग की तरफ़ से ग्राम में प्रौढ-शिक्षा के केन्द्र भी खोले जाते थे।

(ख) **बम्बई**—बम्बई मे भी 'ग्राम-पुनर्निर्माण-विभाग' (Rural (Reconstruction Department) इन्ही दिनो खोला गया। इस विभाग को ग्राम-पुनर्निर्माण के कार्य मे सहायता देने के लिए प्रान्तीय-स्तर पर 'ग्राम-विकास-प्रान्तीय-पटल' (Provincial Board of Rural Development की रचना की गई। इस पटल में कृषि-विशेषज्ञ, पशु-विशेषज्ञ, गृहोद्योग विशेषज्ञ रखे गए ताकि ग्रामो के हर पहलू के विकास मे वे अपना परामर्श दे सकें।

(ग) **बंगाल**—बगाल में ग्राम-पुनर्निर्माण के डाइरेक्टर के अधीन 'ग्राम-विकास-विभाग' खोला गया जिसका काम कृषि के उन्नत उपायो का प्रचार, ग्रामवासियो की जीवन की परिस्थितियो का सुधार, उनके भोजन का स्तर उच्च करना, उनके लिए आमोद-प्रमोद के साधन जुटाना तथा गाँवो में ग्रामोद्योगो को प्रोत्साहन देना था। इस काम के लिए प्रान्त भर मे भिन्न-भिन्न सोसाइटियाँ बनाई गईं जिन्होंने जंगल

काटे, सड़कों को सुधारा, नालियां बनाईं, मलेरिया आक्रान्त स्थानों में कुनीन बांटी, खेती के लिए जमीन काटी, कूए खुदवाये और उत्तम बीज का ग्रामवासियों में वितरण किया।

(घ) **उत्तर-प्रदेश**—उत्तर-प्रदेश में 'प्रान्तीय ग्राम-विकास पटल' (Provincial Rural Development Board) की कांग्रेसी-सरकार ने स्थापना की। इस प्रान्तीय-पटल के अधीन जिलों में 'जिला ग्राम-विकास संघ' स्थापित किए। जिले में भी १५-१५ गाँवों की इकाइयाँ बनाई गईं जिनमें विकास के कार्यों को प्रारम्भ किया गया। १९४०-४१ में १५-१५ गाँवों की उत्तर-प्रदेश में ७९५ इकाइयाँ काम कर रहीं थी। इन सब में सुधार-कार्य भिन्न-भिन्न प्रकार के संगठनों से चलाया गया जिनमे पँचायतो का भी विशेष भाग रहा। गाँवों में उत्तम बीज बाँटना, गाय-बैल की नस्ल सुधारना, ग्रामोद्योग जारी करना, स्वास्थ्य तथा शिक्षा की समस्याओं को हल करना इन सगठनों का काम रहा। अनेक गाँवो में पानी की समस्या का हल किया गया, गाँव-घर बनाये गये।

इसी प्रकार असम, मद्रास, सी० पी०, कोचिन, काश्मीर, मैसूर, बड़ौदा, हैदराबाद—सब जगह ग्राम-पुनर्निर्माण की योजनाएँ १९३७ के बाद कांग्रेस-मन्त्री-मण्डल बनने पर चलाई गईं और सब जगह कृषि-सुधार, पशु-सुधार, बीज-सुधार, पँचायत-निर्माण आदि कार्य किये गए। आजकल जो 'सामूहिक-योजनाएं' और 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्ड' चल रहे हैं उनका बीजारोपण इसी समय हो गया था।

इन 'सामूहिक-योजनाओं' तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्डों' पर विशेष तौर पर ध्यान स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद गया। अपने देश की सरकार का ध्यान विशेष तौर पर ग्रामों के संगठन की तरफ़ गया। इसी दृष्टि से पँचायतों का निर्माण हुआ, इसी दृष्टि से 'सामूहिक-योजनाओं' के बीज को वृक्ष का रूप दिया गया। ग्रामों का उद्धार करने के लिए बहुत गहरा काम करना होगा। एक-एक गाँव को

पकड़ कर उसकी सब समस्याओं को सुलझाना होगा। गाँव की समस्यायें हैं—कृषि, पशु, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रौढ-शिक्षा, सहकारिता, मकान, सडक, पानी—यह सब-कुछ। जब तक हर समस्या का समाधान नही होता, तब तक गाँव का पुनर्निर्माण भी नही होता। इसी लक्ष्य को सामने रखकर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने 'सामुदायिक योजनाओं' (Community Projects) की रूप-रेखा तैयार की और १९५२ में महात्मा गाधी के जन्म दिन—२ अक्तूबर—को उसे जारी किया।

५. सामुदायिक-योजनाओं की रूप-रेखा

२ अक्तूबर १९५२ को 'सामुदायिक-योजनाओ का जो कार्य-क्रम जारी हुआ उसकी रूप-रेखा निम्न थी:—

(क) **'अग्र-गामी-योजना'** (Pilot Project) **के परीक्षण**—योजना चालू की जाय इससे पहले उस प्रकार के परीक्षण कर लेना आवश्यक था। इस प्रकार के परीक्षण भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जारी किये गए। इनमे उत्तर-प्रदेश की १९४८ मे प्रारम्भ की गई 'इटावा-अग्रगामी-योजना' (Etawah Pilot Project) प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त मद्रास की 'फिरका-अग्रगामी-योजना', ट्रावन्कोर-कोचीन की 'मार्तंडम-अग्रगामी योजनाए' भी प्रसिद्ध हैं।

(ख) **'सामुदायिक-योजनाएँ'** (Community Projects)—उक्त अग्र-गामी योजनाओ से प्रोत्साहित होकर बड़े पैमाने पर ग्राम-पुनर्निर्माण की योजनाओं का प्रारम्भ किया गया। शुरू-शुरू मे प्लानिंग कमीशन ने ५५ 'सामुदायिक-योजनाओ' की स्वीकृति दी। इन ५५ 'सामुदायिक-योजनाओं' के लिये ४० करोड रुपये की स्वीकृति दी गई। इनको सफल बनाने में अमरीका ने ४ करोड की सहायता दी। अमरीकी सहायता उपकरणो के रूप में दी गई थी। प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना मे प्लैंनिंग कमीशन ने पहले पाँच वर्षों के लिये १०२ करोड रुपया बजट में रखा था। इसका उद्देश्य यह था कि ५५ योजनाओं पर ४० करोड खर्च

हो जाने पर इसी प्रकार की अन्य योजनाएँ भी इस १०२ करोड़ रुपए से ही जारी की जायें। एक 'सामुदायिक-योजना' (Community Project) २ लाख व्यक्तियो के क्षेत्र की आवश्यकताओ को पूरा करती थी। इसमें ३०० गाँव सम्मिलित किए गए थे। प्रत्येक 'सामुदायिक-योजना' (Community Project) पर ६५ लाख खर्च किया गया। इन ३०० गाँवों की कृषि, पशु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की सब समस्याओं को हल किये जाने का प्रोग्राम था। जैसा ऊपर कहा गया, ५५ 'सामूहिक-योजनाओं' का यह कार्यक्रम २ अक्तूबर १९५२ को जारी किया गया।

(ग) **'सामुदायिक विकास-खण्ड' तथा 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्ड'** (Community development Blocks and National Extension Service Blocks)—ऊपर जिन 'सामुदायिक-योजनाओ' का हमने वर्णन किया वे २ अक्तूबर १९५२ मे शुरू की गई। इनके ठीक एक साल बाद अक्तूबर १९५३ मे उनसे कुछ छोटी योजनाओ का प्रारम्भ किया गया। इनका नाम था 'सामुदायिक विकास-खण्ड' (Community development Blocks & National Extension Service Blocks)। इन दोनो खण्डो मे भेद सिर्फ इतना था कि 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खड' में कार्य-क्रम उतना गहरा नही था जितना 'सामुदायिक विकास-खण्ड' में था, वैसे दोनों का क्षेत्र १०० गाँव, ६० से ७० हजार की आबादी तथा १५० से १७० वर्गमील क्षेत्र था। 'सामुदायिक-योजनाओं' (Community Projects) पर तो अमरीका से ४ करोड़ की सहायता ली गई थी, इन 'सामुदायिक-विकास-खण्डों' के लिये किसी से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली गई। ध्यान रखने की बात यह है कि 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खड' का काम जब गहराई से चल पड़ता है, तब वही 'सामुदायिक विकास-खंड' के रूप में परिणत हो जाता है। प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना तक एक 'सामुदायिक-योजना' (Community project) में तीन 'सामुदायिक-खण्ड' (Community development

blocks) थे, और इन 'विकास-खण्डो' की योजना १९५३ में शुरू की गई थी। अब द्वितीय पँच-वर्षीय-योजना मे योजना को नए सिरे से ढाला गया है। बडे पैमाने की ३०० गाँवों की 'सामुदायिक-योजनाओ' (Community projects) को छोड दिया गया है, और उनके स्थान में १०० गाँवो के 'विकास-खण्ड' (Development blocks) बनाए गए हैं। इन 'विकास-खण्डो' में पहले 'राष्ट्रीय-सेवा-खण्ड' (N E. S. Blocks) के रूप मे तीन साल तक काम होता है और उस पर ७॥ लाख व्यय होता है, जब वह जड पकड जाता है तब उसे 'सामुदायिक विकास-खण्ड' (Community development block) मे बदल दिया जाता है जो फिर तीन साल तक चलता है और उस पर भी ७॥ लाख व्यय होता है और इस प्रकार छः साल काम हो चुकने के बाद उस काम को आगे चलाने के लिये कुछ स्टाफ छोड दिया जाता है। इस दृष्टि से 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्ड' तथा 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' एक ही योजना के दो पहलू बना दिए गए हैं। प्रथम पँच-वर्षीय-योजना में देश का एक चौथाई हिस्सा इन योजनाओ के अन्तर्गत आ गया, अब द्वितीय पँच-वर्षीय-योजना में सारा देश इन विकास-योजनाओ के अन्तर्गत आ जायगा। द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना में सारे देश मे ३८०० 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्ड' (N.E.S. blocks) जारी किए जा रहे हैं जिनमे से जड पकड जाने पर ११२० को 'सामुदायिक विकास-खण्डो' (Community development blocks) मे परिवर्तित कर दिया जायगा और जो-जो 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्ड' गहरा होता जायगा, वह 'सामुदायिक विकास-खण्ड' के रूप मे बदलता जायगा।

'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्ड' (N. E. S. block) तथा 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' (Community development block या C D. Block) मे जो थोडा-बहुत अन्तर है वह उनमें काम करने वाले स्टाफ़ से स्पष्ट हो जायगा। 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्ड' में निम्न स्टाफ रहेगा—१ 'विकास-अधिकारी'; ३ 'विस्तार-अधिकारी' (इन तीनो मे से एक कृषि का,

एक पशुओं का तथा एक सहकारिता एवं पंचायतो का विशेषज्ञ होगा); सामाजिक-शिक्षा के सगठन-कर्ता (इन दो में से एक स्त्री तथा एक पुरुष होगा), १ ओवरसीयर (इसे स्वास्थ्य-सेवा का ज्ञान होना चाहिए) ; १० 'बहुधधी ग्राम-सेवक', १ गणक तथा भण्डारी; १ क्लर्क और ३ नौकर। 'सामुदायिक विकास-खण्ड' में उक्त स्टाफ़ तो रहेगा ही, परन्तु इसके अलावा निम्न स्टाफ़ अतिरिक्त रहेगा—'बहुधन्धी ग्राम-सेवक' १० की जगह १२ हो जायेंगे। इनके अलावा ४ पशुओं के काम के सहायक; १ डाक्टर; १ कम्पाउण्डर, १ लेडी हेल्थ विजिटर; ४ दाईयाँ; १ स्वास्थ्य-शिक्षक; २ भंगी—ये और रहेंगे। सामाजिक-शिक्षा के संगठनकर्ताओ के ऊपर १ मुख्य समाज-सेवा संगठनकर्ता भी 'सामुदायिक विकास-खण्ड' मे रखा जायगा। परन्तु वह तीन 'सामुदायिक विकास-खण्डो' के लिए एक होगा। इससे स्पष्ट है कि 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्ड' की अपेक्षा 'सामुदायिक विकास-खण्ड' में बहुत ज्यादा भेद तो न होगा, परन्तु स्वास्थ्य की दिशा मे 'सामुदायिक विकास-खण्ड' में बहुत ज्यादा ध्यान दिया जायगा। भोर-समिति की अल्पकालीन स्वास्थ्य योजना को 'सामुदायिक विकास-खण्डो' मे स्थान दिया गया है। कृषि, पशु, सहकारिता, पचायत, शिक्षा, मनोरजन आदि सब क्षेत्रो मे इन विकास-खण्डो मे ध्यान दिया जायगा। द्वितीय पँच-वर्षीय-योजना मे १९५६ से १९६१ तक ८९९ नवीन 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्डों' की स्वीकृति दी जा चुकी है।

(घ) **'बहुधंधी ग्राम-सेवक'** (Multi-purpose village-level workers)—उक्त दोनों खण्डों में १०० गाँव होते हैं, इन सौ गाँव की समस्याओं को कैसे हल किया जाय ? ऊपर के सारे काम का संचालन तो किसी एक ही स्थान से हो सकेगा, और विकास-अधिकारी उसी एक स्थाम पर रह सकेगा, फिर इन १०० गाँवो के साथ सपर्क कैसे स्थापित किया जायगा ? इस समस्या को हल करने के लिए ३ से ५ हजार के

क्षेत्र के १० गाँवो के लिये एक-एक 'बहुधन्धी ग्राम-सेवक' (Multi-purpose village-level worker) रखा गया है। एक 'विकास-खण्ड' मे क्योंकि १०० गाँव होते हैं इसलिए एक खण्ड मे १० ग्राम-सेवक रखने की व्यवस्था की गई है। इनका काम १० गाँवो के लोगो से सम्पर्क स्थापित करना, उनकी समस्याओ को समझना, इन समस्याओ को 'विकास-खण्ड' के अधिकारियो के पास लाना और हल समझकर गाँव के लोगो तक पहुँचाना होगा। ये ग्राम-सेवक इस सारी योजना की जान हैं। इन ग्राम-सेवकों को बाकायदा प्रशिक्षण दिया जाता है और इनका ग्राम-वासियो की कृषि, पशु, लेन-देन, कर्ज, शिक्षा, चिकित्सा आदि हर समस्या से जानकारी रखना आवश्यक है।

प्रथम पँच-वर्षीय-योजना के अन्त तक भारत की ग्रामीण जनता का एक-चौथाई हिस्सा या तो 'सामुदायिक विकास-खण्डों' (Community Development Blocks) या 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्डो' (National Extension Service Blocks) के अन्तर्गत आ चुका था। प्रथम पँच-वर्षीय-योजना काल मे कुल १२०० 'खण्ड' (Blocks) बन चुके थे जिनमे से ७०० 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' तथा ५०० 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्ड थे। इन पर ५२.४ करोड रुपया व्यय हुआ। द्वितीय पँच-वर्षीय-योजना काल में १९६०—६१ तक भारत का सम्पूर्ण ग्रामीण प्रदेश इन विकास खण्डो मे आ जायगा जिनमें से ४० प्रतिशत विकास-क्षेत्र 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' (Community Development Blocks) का रूप धारण कर लेगे। द्वितीय-योजना मे इस सम्पूर्ण विकास-कार्य के लिए २०० करोड़ रुपया रखा गया है।

१९५२ से १९५८ तक 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' (Community Development Blocks) तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्ड' (National Extension Service Blocks) का जो कार्य चलता रहा है उसकी रूप-रेखा निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

विकास खण्ड	स्वीकृत खड	जारी किए गए खण्ड	इनमें कितने गाँव आ गये	जनसख्या [लाख में]
सामुदायिक विकास खण्ड (C D Blocks)				
१९५२–५३	२०६	२०६	२७३८८	१६६
१९५४–५५	५६	५६	८५८४	४२
१९५५–५६	१५२	१५२	२१४३८	१२४
१९५६–५७	२५०	२५०	३६०१७	१८६
१९५७–५८	१८९॥	१८९॥	२५५३०	११२

विकास खड	स्वीकृत खड	जारी किए गए खण्ड	इनमे कितने गाँव आ गए	जनसख्या [लाख में]
राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड (N.E.S. Blocks)				
१९५४–५५	१९॥	१९॥	२८९३	१८
१९५५–५६	१८७	१८७	२७२६१	१३८
१९५६–५७	४९५	४९५	६६९११	३३३
१९५७–५८	५९७	५९७	६०००४	३७२
योग	२१५२	२१५२	२७६०२६	१४९४

जून १९५७ के अंत तक ११८९५७ गाँव जिनमें ६०३ करोड़ जन-सख्या आ जाती है 'सामुदायिक-विकास-खण्डों' (Community Development Blocks) तथा १५७०६९ गाँव जिनमे ८.६ करोड़ जन-संख्या आ जाती है 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्डों' (National Extension Service Blocks) के अन्तर्गत आ गई थी। द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना काल के बचे हुए वर्षों में 'सामुदायिक-विकास-खण्डों' तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार-खण्डो' का जो कार्य-क्रम निर्धारित किया जा चुका है वह निम्न है.—

वर्ष*	प्रस्तावित राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खण्ड (Proposed N.E.S. Blocks)	प्रस्तावित सामुदायिक विकास-खड (Proposed C.D. Blocks)
१६५८–५६	७५०	२६०
१६५६–६०	६००	३००
१६६०–६१	१०००	३६०

उक्त तालिका में प्रस्तावित सामुदायिक-विकास-खण्डो की जो सख्या दी गई है उसका अभिप्राय यह है कि प्रस्तावित राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्डो में से उतनी सख्या मे गहराई से काम किया जायगा और उतने 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्ड' बहुत अधिक कार्य किये जाने के कारण 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' का रूप धारण कर लेगे क्योकि यह हम पहले ही स्पष्ट कर आये हैं कि इन दोनो मे कार्य की गहराई का ही भेद है, अन्य कुछ नही।

६. सामुदायिक-योजनाओं तथा राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं का मूल्यांकन

(Evaluation of the working of C. D. and N. E. S. Blocks)

प्लैनिंग-कमीशन ने 'सामुदायिक-योजनाओ' तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओ' की यथार्थ स्थिति का मूल्याकन करने के लिए, यह जानने के लिए कि इन योजनाओ मे कहाँ तक सफलता मिली है, कहाँ हेर-फेर तथा परिवर्तन की आवश्यकता है, एक सस्था बनाई हुई है जिसका नाम है—'प्रोग्राम इवैल्युएशन आर्गनाइजेशन' (Programme Evaluation Organisation)। इस संस्था की तरफ से एक 'प्रोजेक्ट इवैल्युएशन आफिसर' (Project Evaluation Officer) भी नियुक्त

* India 1958.

किया जाता है। इस संस्था द्वारा सामुदायिक योजनाओ का निरीक्षण करके, उनके कार्यकर्ताओं से मिल-जुलकर, उनकी कठिनाइयो को समझकर, और हर बात की जाँच-पडताल करके समय-समय पर रिपोर्ट तैयार की जाती है। १६५५ तथा १६५६ मे भी इस प्रकार की रिपोर्टें तैयार हुईं, और मई १६५८ में* इस सस्था की पाँचवी रिपोर्ट प्लैनिंग-कमीशन के सम्मुख प्रस्तुत की गई। १६५८ की रिपोर्ट में सामुदायिक-योजनाओ तथा राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं के विषय में जो मुख्य-मुख्य बातें कही गईं, वे निम्न हैं:—

(१) **विस्तार-खण्ड के कार्यकर्ताओं की संख्या और विस्तार-खण्ड पर किया जाने वाला व्यय विस्तार-खण्ड के क्षेत्र के अनुकूल होना चाहिए**—'प्रोग्राम इवैल्युएशन आर्गनाइजेशन' का कहना है कि योजना खण्डो के अध्ययन से पता चला है कि जन-सख्या की दृष्टि से योजना का क्षेत्र प्रायः २५ प्रतिशत बडा है, और जो बडे क्षेत्र हैं उनमें उस क्षेत्र के अनुरूप उतना अधिक न तो स्टाफ ही रखा गया है और न उतने बड़े क्षेत्र के लिए उतने धन की व्यवस्था की जाती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रोग्राम को उतनी गहराई मे न चलाकर हल्का करना पडता है। सामुदायिक-योजनाओ और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओ को उपयोगी बनाने के लिए इन क्षेत्रो में जितने कार्यकर्ताओ की आवश्यकता है और जितने धन की आवश्यकता है उसकी व्यवस्था किये बिना इन योजनाओ का पूर्ण रूप से सफल होना कठिन है।

(२) **विकास-खण्डों की संख्या तभी बढ़ानी चाहिए जब कार्य-कर्ताओं की संख्या पर्याप्त हो**—'प्रोग्राम इवैल्युएशन आर्गनाइजेशन' के सदस्यो का कहना है कि उन्होने जहाँ तक वस्तु-स्थिति का अध्ययन किया है उसके अनुसार तो यह परिणाम निकलता है कि विकास-क्षेत्रों

---

*The Fifth Evaluation Report on Working of Community Development and N. E. S. Blocks published by the Programme Evaluation Organisation.

मे कार्य करने वालो का अभी बहुत अभाव है। उदाहरणार्थ, ४० प्रतिशत विकास-क्षेत्रो में 'क्षेत्र-विकास-अधिकारी' (Block Development Officer—B. D O) पूरे समय तक उपस्थित नही थे और 'विकास-योजना-क्षेत्रों' (C D Blocks) तथा 'विस्तार-सेवा-क्षेत्रों' (N. E S. Blocks) मे कृषि-विशेषज्ञ योजना-काल के एक-चौथाई समय तक उपस्थित नही थे। इस सबका यही परिणाम हो सकता है कि योजना तो चालू रही, परन्तु योजना को क्रियान्वित करने वाले व्यक्तियो का अभाव रहा। जब योजना को चलाने वाले व्यक्ति न रहे, तब योजना भी क्या चली होगी ?

(३) **सामुदायिक-योजना और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं का प्रोग्राम और उसे पूर्ण करने के लिए रखे गए कार्यकर्ता उस-उस क्षेत्र की स्थानीय आवश्यकताओं को देखकर तदनुरूप होने चाहिएँ**—ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो की योजनाये उस-उस क्षेत्र की स्थानीय आवश्यकताओ को देखकर नही बनाई गई। परिणाम यह होता है कि योजना का जो प्रोग्राम बनाया जाता है वह स्थानीय आवश्यकताओ को पूरा नहीं करता और इससे वहाँ के लोगो के जीवन को योजना छू नही पाती। खासकर स्टाफ रखते और प्रोग्राम बनाते हुए स्थानीय आवश्यकताओ को ध्यान मे नही रखा जाता।

(४) **'खण्ड-विकास-अधिकारी'** (Block Development Officer) **की योग्यता और उसकी स्थिति उसकी वर्तमान योग्यता और स्थिति से ऊँची होनी चाहिए**—ज्यो-ज्यो समय बीतता जायगा त्यो-त्यो अपने देश मे सत्ता का विकेन्द्रीकरण होता जायगा और सत्ता कुछ लोगो के हाथ मे केन्द्रित रहने के स्थान मे जन-साधारण के हाथ मे आ जायेगी। प्रजातान्त्रिक-युग का यह अवश्यम्भावी परिणाम है। इसका परिणाम यह होगा कि जितने विकास-क्षेत्रो में काम करने वाले अधिकारी हैं उनका महत्व बढ जायगा क्योकि वे भारत के ग्रामो मे बसने वाली जनता के निकटतम सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्ति होंगे। ऐसी स्थिति मे

इन कार्यकर्ताओं का महत्व पहले से बहुत अधिक बढ़ जायगा। क्योंकि इनका महत्व बढ़ेगा इसलिए यह आवश्यक है कि ये लोग योग्यता में अब से बढ़े-बढ़े हों और इनकी स्थिति इनकी वर्तमान स्थिति से ऊँची मानी जाय।

(५) **कृषि के अलावा अन्य सभी क्षेत्रों में भी विकास तथा विस्तार** (Development and Extension) **के कार्य को बढ़ाया जाय और विशेषज्ञों को अपना कार्य करने दिया जाय, उन्हें प्रबन्ध के कार्य से मुक्त किया जाय**—फ़िलहाल विकास-क्षेत्रों में कृषि के अलावा 'विस्तार-कार्य' (Extension work) बहुत कम दिखाई देता है। जो भी विशेषज्ञ इन विकास-क्षेत्रों में कार्य करते हैं, वे प्रायः प्रबन्ध के कार्य मे व्यस्त रहते हैं। अगर हम इन क्षेत्रों का सब दिशाओ में विकास चाहते हैं तो इन विशेषज्ञों को अपने-अपने क्षेत्रों में विशेष ध्यान देना होगा। उदाहरणार्थ, चिकित्सा-विशेषज्ञ को चिकित्सा की तरफ़, शिक्षा-विशेषज्ञो को शिक्षा की तरफ़ ध्यान देना होगा। इस समय कृषि-विशेषज्ञ तो कृषि के विस्तार मे लगा ही रहता है, अन्य विशेषज्ञ प्रबन्ध के कार्य में व्यस्त रहते हैं। इस स्थिति को बदलना होगा।

(६) **'क्षेत्र-विशेषज्ञ'** (Block Specialists) **तथा ग्राम-सेवक के पारस्परिक संपर्क को बढ़ाना तथा ग्राम-सेवक के कार्य तथा क्षेत्र को स्पष्ट करना आवश्यक है**—इस समय ग्राम-सेवक तथा ब्लाक-विशेषज्ञों का सम्पर्क कृषि के क्षेत्र को छोडकर अन्य क्षेत्रों मे न के बराबर होता है। विशेषज्ञ भी अपने-अपने क्षेत्र में अधिकतर प्रबन्ध के काम में लगे रहते हैं, और सम्भवतः इसी कारण उन्हे या तो ग्राम-सेवक की आवश्यकता नहीं पड़ती, और अगर कभी आवश्यकता पड़ती भी है, तो वह इतना कम प्रशिक्षित होता है कि उनके किसी काम नहीं आ सकता, वे उसके बगैर अपना काम चला सकते हैं। यह स्थिति ठीक नही है। हमारी योजना मे ग्राम-सेवक 'बहु-धन्धी विस्तार-कार्यकर्ता' (Multi-purpose extension worker) है, परन्तु वह इस भूमिका को सफलता

से निबाहने के लिए तैयार नही किया जाता। या तो उसका प्रशिक्षण अधिक विस्तृत-क्षेत्रो के लिए होना चाहिए ताकि वह प्रत्येक विशेषज्ञ को उसके काम में सहयोग दे सके, या उसका प्रशिक्षण कुछ ही क्षेत्रों मे होना चाहिए और उसे काम करने के लिए भी सीमित क्षेत्र देने चाहियें। इस समय उसके कार्य का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है परन्तु उसकी योग्यता का क्षेत्र इतना विस्तृत नही है। इस समय ग्राम-सेवक को जितनी योग्यता होती है उसकी अपेक्षा उसके कार्य का क्षेत्र २५ प्रतिशत अधिक विस्तृत है। इसके अतिरिक्त ग्राम-सेवक जहाँ रहता है उस स्थान को छोडकर अन्य ग्राम जिनमे उसे काम करना है उसकी सेवाओ का ४५ प्रतिशत कम फ़ायदा उठा पाते हैं।

(७) **विकास-क्षेत्रों के लिए धन प्राप्त करने की व्यवस्था को सरल बनाना होगा**—विकास-क्षेत्रो के लिए जितना धन स्वीकृत किया जाता है उतना वे खर्च नही कर पाते। इसका कारण है धन प्राप्त करने की व्यवस्था का पेचीदा होना। या तो ठीक समय पर धन की स्वीकृति नही प्राप्त होती, जब स्वीकृति हो भी जाती है तब भी दफ्तरी लम्बी-चौडी कार्यवाही के कारण धन समय पर प्राप्त नही होता जिससे कार्य अधूरे पडे रह जाते हैं।

(८) **जनता का सहयोग प्राप्त करने के उपायों पर विचार करने की आवश्यकता है**—जब से सरकार द्वारा विकास का कार्य प्रारम्भ हुआ है तब से जनता मे यह भावना उत्पन्न हो गई है कि यह सब-कुछ सरकार का काम है, इसमें जनता को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। सरकारी लोगो की भावना भी ऐसी ही रहती है कि वे अपने अफसरीपन में अधिक रहते हैं। इस सबमे परिवर्तन की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण का परिवर्तन तभी हो सकता है जब इन क्षेत्रो में सरकारी कार्यकर्ता वे लोग हो जिनकी भावना जनता की भावना हो, जो जनता के साथ हिल-मिल सकते हो, उनके साथ एक-जान हो सकते हों,

जीपों में सैर करते फिरने वाले और चपरासियों से अपने घर के काम कराने वाले जनता में किसी प्रकार का उत्साह नहीं पैदा कर सकते।

(६) **हरिजनों तथा अन्य भूमिहीनों को लाभ पहुँचाने के लिये विकास-कार्यों की रूप-रेखा में परिवर्तन करना होगा**—इस समय जो विकास-कार्य चल रहे हैं उनसे हरिजनों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को भी लाभ पहुँचा है। उदाहरणार्थ, कुएँ खुदे हैं, सड़कें बनी हैं, स्कूल खुले हैं। इन सबका इन पिछडे वर्गों को भी फ़ायदा पहुँचा है। इन पिछड़े वर्गों के लिये कही-कही विशेष तौर पर भी कार्य हुआ है। परन्तु फिर भी विकास-क्षेत्रो मे अधिक कार्य कृषि सम्बन्धी ही हुआ है, और क्योंकि हरिजनों तथा अन्य पिछडे वर्गों के पास भूमि ही नही है इसलिये इन्हें अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा कम लाभ मिला है। इस दृष्टि को सामने रखते हुए हमें विकास-क्षेत्रों के कार्य की रूप-रेखा में कुछ ऐसा परिवर्तन करना होगा ताकि इन्हे भी लाभ पहुँच सके।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत के ग्रामों का पुनर्निर्माण पहले गैर-सरकारी तौर से चलता रहा और अब सरकार की सहायता से विकास-योजनाओ द्वारा बडी तीव्र गति से चल रहा है।

प्रश्न

१. योजना की क्या आवश्यकता है?

२. जिन देशों में आयोजन के अनुसार कार्य किया गया उनकी प्रगति की उन देशों के विकास से तुलना करो जिन्होंने आयोजन के अनुसार कार्य नहीं किया।

३. सामुदायिक-विकास-योजना की रूप-रेखा लिखिए।

४. 'सामुदायिक-विकास-खण्ड' (Community Development Block) **तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खंड'** (National Extension Service Block) **में क्या भेद है?**

५. उत्तर-प्रदेश में 'अग्रगामी-योजना' (Pilot project) कहाँ शुरू हुई ?

६ १९५८ तक 'सामुदायिक-विकास-खण्डों' (C. D Blocks) तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खण्डों' (N. E. S. Blocks) की क्या स्थिति रही ?

१०

भारत में सामाजिक-कल्याण

(SOCIAL WELFARE IN INDIA)

१. भारत में समाज-कल्याण संबंधी आयोजन की रूप-रेखा

किसी भी साँकल की मजबूती उसकी कमजोर-से-कमजोर कड़ी के ऊपर निर्भर है। अगर साँकल की सब कड़ियाँ मजबूत हैं, परन्तु एक कडी कमजोर है, तो वह साँकल उस कमजोर कडी के स्थान से ही टूट जायगी। समाज की साँकल की मजबूती भी उसकी कमजोर कड़ी पर निर्भर करती है। इसलिये समाज को सबल बनाने के लिए समाज के निर्बल अङ्गों को मजबूत बनाना आवश्यक है।

वैसे तो संपूर्ण समाज को सबल बनाना कल्याणकारी राज्य का कर्तव्य है और इसी कर्त्तव्य को निभाने के लिये राज्य की आर्थिक-आय को बढ़ाना, जीवन-स्तर को ऊँचा करना—यह सब राज्य कर रहा है, परन्तु इतने ही से तो काम नहीं चलता। इन सबके अतिरिक्त समाज के जो निर्बल अङ्ग हैं उनकी देख-रेख करना भी राज्य का कर्तव्य है, क्योंकि जैसा हमने अभी कहा शक्तिशाली-से-शक्तिशाली राज्य अपने किसी एक निर्बल अङ्ग से शक्तिहीन हो सकते हैं। बाँध कितना ही मज़बूत क्यों न हो, अगर उसमें किसी एक जगह भी छेद है, तो नदी का

पानी उसी छेद मे से रिस्ता-रिस्ता सारे बाँध को तोड सकता है। राज्य के इन कमज़ोर अङ्गो की देख-रेख करना ही 'समाज-कल्याण' (Social Welfare) का आधारभूत विचार है।

इसी बात को दृष्टि मे रखते हुए भारत के सविधान मे जहाँ आधारभूत तथा प्रेरक सिद्धान्तो (Fundamental Human Rights and Directive Principles) मे 'कल्याणकारी-राज्य' (Welfare state) की कल्पना की गई है, वहाँ समाज के दोनो पहलुओ को ध्यान में रखा गया है—एक पहलू है समाज का आर्थिक-ढाँचा, दूसरा पहलू है समाज का सामाजिक ढाँचा। आर्थिक ढाँचा बनेगा समाजवादी समाज का, धनी-निर्धन के भेदभाव को दूर करने का; सामाजिक ढाँचा भी बनेगा समाजवादी समाज का, मनुष्य-मनुष्य के भेद-भाव को दूर करने का, स्त्री-पुरुष की सामाजिक-विषमता को, पुरुष-पुरुष की सामाजिक विषमता को, जात-बिरादरी की पैदा की हुई सामाजिक-विषमता को दूर करने का। इसी सामाजिक कार्य-क्रम के अन्दर वे प्रोग्राम भी आ जाते हैं जिनके अनुसार हमे समाज के उपेक्षित, हीन, अधिकार-शून्य वर्ग के अधिकारो की रक्षा करनी है, उनकी तरफ विशेष ध्यान देना है। समाज के इस उपेक्षित-वर्ग की देख-रेख का ही दूसरा नाम समाज-कल्याण संबधी आयोजन है। स्त्रियो की समाज में सदियो से उपेक्षा होती रही है। कही विधवाएँ है, कही स्त्रियो में शिक्षा का अभाव है, कहीं स्त्रियो का आर्थिक-शोषण कर उन्हे नरक-समान जीवन में धकेला जा रहा है—ये सब समाज-कल्याण की समस्याएँ हैं। इसी प्रकार बच्चो की समस्याएँ हैं। निर्धन बच्चो को भरपेट खाने को नही मिलता, उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, बच्चो का स्वास्थ्य उन्नत होगा तो देश को होनहार युवक मिल सकेंगे। इनकी समस्याएँ भी समाज-कल्याण की समस्याएँ है। इनके अतिरिक्त समाज में लगडे—लूले हैं, अपंग हैं, अपाहिज हैं, बूढे है, कोढी है, भिखमंगे हैं। ये भी तो समाज के अङ्ग हैं। जिन कारणो से समाज में इस प्रकार के व्यक्ति बढ़ते हैं उन्हें दूर

करना और इस समय जो इन कष्टों से कराह रहे हैं उनके कष्ट को दूर करना—यह किसका काम है ? अब तक तो धनी-मानी लोग दान देते थे, उनके दान से विधवाश्रम, अनाथालय, कोढी-घर चलते थे, परन्तु जब से कल्याणकारी-राज्य के विचार ने जन्म लिया है तब से किसी की दया पर निर्भर रहने के स्थान में राज्य की तरफ से इन दिशाओ मे ध्यान देना—यह विचार जड़ पकडता जा रहा है। धनी-मानी लोगो की दया हो तभी दीन-दुखियो के कष्ट दूर हो, उनकी दया न हो, तो समाज इन कष्टो के बोझ से दबा ही रहे—यह स्थिति आज के युग में नही रह सकती। यही सब सोचकर आज जहाँ समाज के विकास के लिए आर्थिक-योजनाएँ बन रही हैं, वहाँ समाज-कल्याण सबधी योजनाएँ भी बन रही हैं।

२. केन्द्र तथा राज्य के समाज-कल्याण-बोर्ड

जब से अपना देश स्वतन्त्र हुआ है, तब से 'संविधान' के अनुसार यह तो हम घोषित ही कर चुके हैं कि इस देश का विकास 'कल्याणकारी-राज्य' (Welfare state) के रूप में होगा। सरकार की तरफ से जो मंत्रालय बने हैं, वे जनता का कल्याण करने के लिए ही बने हैं। श्रम-समस्याओ को हल करने के लिये श्रम-मंत्रालय, शिक्षा की समस्याओं को हल करने के लिये शिक्षा-मंत्रालय, स्वास्थ्य की समस्याओं को हल करने के लिए स्वास्थ्य-मंत्रालय बने हैं। इन सबका काम सरकारी तौर पर 'सामाजिक-कल्याण' करना है। परन्तु सारा-का-सारा सामाजिक-कल्याण सरकारी तौर पर ही तो नहीं होता। गैर-सरकारी तौर पर भी तो 'सामाजिक-कल्याण' का कार्य होता है। जनता ने अब तक सैकडों समाज-कल्याण के काम अपने बूते पर चला रखे थे। इन सबको सहायता देना भी कल्याणकारी-राज्य का काम है। इसी उद्देश्य से १२ अगस्त १९५३ को कैबिनेट ने 'केन्द्रीय-समाज-

कल्याण बोर्ड' (Central Social Welfare Board) की स्थापना की जो शिक्षा-मन्त्रालय की साधारण देख-रेख मे स्वायत्त-संस्था के रूप में काम कर रहा है। इसकी अध्यक्षा श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख नियत की गई। इस बोर्ड का काम तीन तरह का है—एक काम तो अब तक जो समाज-कल्याणकारी कार्य जनता की तरफ से चल रहे थे, उनकी जाँच-पडताल कर योग्य सस्थाओ को परामर्श तथा आर्थिक-सहायता देना है, दूसरा भिन्न-भिन्न मन्त्रालयो द्वारा जो समाज-कल्याण-सम्बन्धी कार्य चल रहे हैं उनमें पारस्परिक-सहयोग स्थापित करना, तीसरा जहाँ समाज-कल्याणकारी कार्य नहीं चल रहे वहाँ योजनाएँ बनाने के लिये आर्थिक सहायता देकर जनता को प्रोत्साहित करना। प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना मे 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड' की योजनाओ के लिये योजना-आयोग ने ४ करोड रुपया खर्च के लिए रखा था, अब द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना में यह रुपया ३० करोड व्यय होगा। इस रुपये से जनता द्वारा चल रही समाज-कल्याण-योजनाओ को सहायता दी जायगी और नवीन समाज-कल्याण के कामो को आर्थिक-सहायता द्वारा प्रोत्साहित किया जायगा।

केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड क्योंकि केन्द्रीय-संस्था है, इसलिये उसका हर प्रात के कार्य की गति-विधि के विषय में जानकारी रख सकना कठिन था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये मार्च १९५४ में केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड ने एक प्रस्ताव द्वारा भिन्न-भिन्न राज्यो में 'राज्य समाज-कल्याण सलाहकार बोर्डों' (State Social Welfare Advisory Boards) की स्थापना की। इन राज्य-बोर्डों का काम केन्द्रीय-बोर्ड को इस बात का परामर्श देना है कि उनके राज्य में कौन-कौन-सी सस्थाएँ हैं जिन्हे आर्थिक-सहायता देना रुपये का सद्व्यय होगा, अपव्यय नही होगा।

३. द्वितीय-योजना में समाज-कल्याण का बजट

हम पहले दर्शा आये हैं कि समाज-सेवा, मकान तथा पुनर्वास पर जो ९४६ करोड रुपये व्यय होगा, इस व्यय का विवरण निम्न प्रकार है—

शिक्षा	३२० करोड़ रु०
स्वास्थ्य	२६७ ,,
आवास	१२० ,,
श्रम	२६ ,,
पिछडे वर्गों का कल्याण	९० ,,
समाज-कल्याण	२८ ,,
पुनर्वास	९० ,,
शिक्षित बेकारो की समस्या की योजनाएँ	५ ,,
योग	९४६ करोड

इन रकमो में कुछ हेर-फेर होता रहता है। उक्त तालिका में 'समाज-कल्याण' के लिए २८ करोड की राशि दिखाई गई है, परन्तु इस समय स्थिति यह है कि 'समाज-कल्याण' के लिये द्वितीय पँच-वर्षीय-योजना मे 'योजना-आयोग' (Planning Commission) ने ३० करोड़ की स्वीकृति दी है जो अगले पाँच सालो मे स्त्रियो, बच्चो तथा अपगो के लिये व्यय की जा सकेगी। पिछली योजना मे ४ करोड़ रुपया इस मद मे खर्च हुआ था। इसमे से कुछ अनुदान उन सस्थाओं को दिया जायगा, जो पहले से ही स्वय समाज-सेवा का कार्य कर रही हैं।

४. राज्य के कल्याण-बोर्डों के कार्य

राज्य-बोर्डों मे लगभग ९ सदस्य होते है जिनमे से आधे केन्द्रीय-बोर्ड नामजद करता है, बाकी आधे राज्य-सरकार नियत करती है। राज्य-बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति राज्य-सरकार केन्द्रीय-बोर्ड की सलाह

से करती है। इन राज्य-बोर्डों की अध्यक्षा स्त्रिया ही होती हैं। इन राज्य-सलाहकार-बोर्डों का काम चार तरह का है, जो निम्न है—

(क) **आर्थिक-सहायता**—एक काम तो है जनता द्वारा चलायी जा रही समाज-कल्याण-सबधी सस्थाओं की जाँच-पडताल करके उनको आर्थिक-सहायता देने के लिये केन्द्रीय-बोर्ड से सिफारिश करना। राज्य-बोर्डों का यह कर्तव्य है कि वे अपने सदस्यो द्वारा हर सस्था की पडताल करायें और यह सस्था कैसी है—इस सबध में अपनी सिफ़ारिश के साथ आर्थिक-सहायता के लिये भेजे गये प्रार्थना-पत्र को केन्द्रीय-बोर्ड तक पहुँचायें ताकि अयोग्य संस्थाओ को सहायता न मिल जाय। सहायता मिल जाने के बाद यह देखना कि रुपये का सदुपयोग हुआ है, हिसाब की जाँच करना—यह सब ज़िम्मेदारी राज्य-बोर्ड की है।

(ख) **कल्याण-विस्तार-योजना**—राज्य-बोर्ड का दूसरा काम 'कल्याण-विस्तार-योजनाओ' (Welfare Extension Projects) का चलाना है। 'कल्याण-विस्तार-योजनाओ' का प्रारम्भ १५ अगस्त १९५४ से किया गया। 'कल्याण-विस्तार-योजना' (Welfare Extension Project) का अभिप्राय यह है कि एक-एक योजना मे २०-२५ गाँव और २० हज़ार की आबादी आ जायगी। इस बीस हज़ार की आबादी या २०-२५ गाँवो मे यह योजना चलेगी। प्रथम-पँच-वर्षीय-योजना मे इस प्रकार की भारत भर के ३५२ ज़िलो मे ३५२ 'कल्याण-विस्तार-योजनाओ' (Welfare Extension Projects) के चलाने का केन्द्रीय-बोर्ड ने प्रोग्राम बनाया था। द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना मे हर जिले में एक की जगह चार 'कल्याण-विस्तार-योजनाएँ' जारी की जायँगी। ये योजनाएँ राज्य-बोर्डों की सीधी देख-रेख मे चलाई जायेंगी। इन २०—२५ गाँवो में ३ से ५ गाँवो की टुकडियाँ बनाकर उनमे एक-एक 'बहु-धधी केन्द्र' (Multi-purpose centre) खोला जायगा। इस प्रकार २०—२५ गाँवो मे ५ से ७ तक 'बहु-धधी-केन्द्र' खोले जायेंगे जिनका काम स्त्रियो तथा बच्चो की समस्याओ को हल करना होगा। केन्द्रीय-

बोर्ड की इस योजना को क्रियान्वित करने का काम राज्य-बोर्डों का है। ये राज्य-बोर्ड ही योजना के लिए उचित क्षेत्र चुनेंगे। राज्य-बोर्ड इन २०–२५ गांवो के लिये एक 'योजना-पूरक-समिति' (Project Implementing Committee) का निर्माण करेगा जिसमें स्थानीय समाज-सेवक सदस्य बनाये जायेंगे। इस प्रकार केन्द्रीय-बोर्ड राज्य-बोर्डों द्वारा और राज्य-बोर्ड योजना-पूरक-समितियों द्वारा 'कल्याण-विस्तार-योजनाओं' के कार्य की देख-रेख करेगा। 'योजना-पूरक-समिति' को सारे काम की देख-रेख के लिये 'केन्द्रीय-बोर्ड' से एक जीप भी दी जायगी। यह सारा कार्य अब शुरू हो गया है।

(ग) **परिवार-कल्याण-योजना**—राज्य-बोर्ड का तीसरा काम 'परिवार-कल्याण-योजनाओं' (Family Welfare Schemes) को जारी करना है। 'कल्याण-विस्तार-योजनाएँ' (Welfare Extension Projects) तो गांवो मे चलती है, कुछ योजनाएं शहरो के लिये भी सोची गई हैं। शहरों के लिये चलाई गई इन योजनाओ का उद्देश्य मध्य-स्तर की स्त्रियो को काम-धंधा देना है। इस तरह की एक योजना दिल्ली मे नजफगढ स्थान पर चलाई गई। इस योजना में एक दियासलाई का कारखाना खोला गया जिसमें २०० के लगभग स्त्रियों को काम मिल रहा है। केन्द्रीय-बोर्ड के निरीक्षण मे राज्य-बोर्ड भिन्न-भिन्न राज्यो में इस प्रकार के काम जारी करने की स्कीमे बना रहे हैं जिनसे मध्य-स्तर की स्त्रियो को ज्यादा-से-ज्यादा काम मिल सके। अब हैदराबाद, पूना आदि में भी ऐसे आयोजन खोल दिए गये हैं।

(घ) **नवीन-योजनाएँ चालू करना**—राज्य-बोर्ड का चौथा काम यह है कि समाज-कल्याण का कार्य करने वाली भिन्न-भिन्न सस्थाओ को ऐसे काम करने के लिये प्रोत्साहित करे जो अब तक कोई सस्था नही कर रही। कई जगह तो एक ही काम के लिये कई सस्थाएं हैं, और कई जगह किसी जरूरी काम के लिए भी कोई संस्था नही है। इस कमी को दूर करना भी राज्य-बोर्ड का काम है।

केन्द्रीय-बोर्ड की संरक्षा में राज्य-बोर्ड के जिस प्रकार के कार्य-क्रम का हमने ऊपर उल्लेख किया उसमें मुख्य कार्य-क्रम है—'कल्याण-विस्तार-योजना' (Welfare Extension Project)। इस योजना का काम गाँवो मे चलता है। इस योजना के अनुसार गाँवों मे अपढ स्त्रियो को अक्षराभ्यास सिखाया जाता है, उन्हे सीना-पिरोना-काढ़ना सिखाया जाता है। बच्चो के लिये बाल-बाडी खोले जाते हैं, उनके खेलने-कूदने का प्रबन्ध किया जाता है। गाँवो मे दवाई बाँटी जाती है, कीर्तन-भजन का प्रोग्राम चलता है, दाइयो का इन्तज़ाम होता है, श्रम-दान से सडको और गलियों की सफाई आदि की जाती है। जैसे केन्द्रीय-बोर्ड की 'कल्याण-विस्तार-योजना' (Welfare Extension Project) है, वैसे 'सामुदायिक-विकास-योजना' (Community Development Project) मे 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा' (National Extension Service) है। केन्द्रीय-बोर्ड की तरफ़ से यह प्रयत्न किया जाता है कि जो काम 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा' द्वारा हो रहा है, उससे अतिरिक्त कार्य को 'कल्याण-विस्तार-योजना' द्वारा किया जाय, उसी काम को न दोहराया जाय। अप्रैल १९५७ से यह निश्चय किया गया है कि अब तक 'राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा' (N E. S) का जो काम स्त्रियों, बच्चो, अपगो, अपराधियो आदि के लिए किया जाता था, वह सब केन्द्रीय-बोर्ड की देख-रेख मे 'कल्याण-विस्तार-योजना' (Welfare Extention Project) द्वारा होगा।

५. समाज-कल्याण के कार्यों की रूप-रेखा

हमने समाज-कल्याण का कार्य करने वाली सरकारी सस्था 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड' तथा राज्य के बोर्डों की रूप-रेखा का वर्णन किया। इसका यह मतलब नही है कि समाज-कल्याण का कार्य और किसी सगठन की तरफ से नही हो रहा। शिक्षा, स्वास्थ्य, रेल, तार, बिजली, बाँध—ये सब कार्य समाज-कल्याण के ही तो हैं, और इन सबको

पूरा करने के लिए अलग-अलग मन्त्रालय बने हुए हैं। केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड अपने सीमित क्षेत्र मे समाज-कल्याण का कार्य कर रहा है। इसका क्षेत्र स्त्रियो, बच्चो, अपंगो, तथा अपराधियों के सुधार आदि तक सीमित है। इस दिशा मे अन्य अनेक सस्थाएँ कार्य कर रही हैं। उदाहरणार्थ, कस्तूरबा-स्मारक-ट्रस्ट गाँवो मे स्त्रियो की समस्याओ को हल करने, कुष्ठ रोगियो के लिए अस्पताल आदि खोलने की दिशा मे पर्याप्त काम कर रहा है। भारत-सेवक-समाज का सगठन भी समाज-कल्याण को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। यह सस्था सर्वथा जनता के सहयोग से समाज-कल्याण का कार्य कर रही है। समाज-कल्याण की सब सस्थाएँ—केन्द्रीय तथा राज्य कल्याण बोर्ड, कस्तूरबा ट्रस्ट, भारत-सेवक-समाज आदि—समाज-कल्याण का कार्य जिन क्षेत्रो मे कर सकती हैं और कर रही हैं, वे हैं—स्त्रियो का क्षेत्र, बच्चो का क्षेत्र, बाधितो का क्षेत्र, कुष्ठ पीडितो का क्षेत्र तथा पिछडी जातियो का क्षेत्र। इन सब के विषय मे हम यहाँ सक्षेप मे कुछ लिखेगे—

[स्त्रियों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

(क) स्त्रियों की स्थिति—स्त्रियो के सम्बन्ध मे सब से बडी समस्या उनकी स्थिति की है। अब तक भारतीय-नारी को घर के क्षेत्र में ही सीमित रखा गया है, अब वह धीरे-धीरे सामाजिक-क्षेत्र में भी अपना स्थान बना रही है। यह ठीक है कि कुछ स्त्रियों के विधान-सभाओं तथा संसद् का सदस्य बनने या मिनिस्टर बन जाने से स्त्रियो की स्थिति मे कोई मौलिक भेद नही पड जाता, परन्तु यह भी ठीक है कि उच्च पदो पर कुछ स्त्रियो के पहुँच जाने से स्त्री-मात्र में आत्म-विश्वास की भावना अवश्य बढ जाती है। इन सब बातों के अलावा स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए 'सामाजिक-विधान' (Social legislation) को बदलने की जरूरत है। हम इस पुस्तक मे उन सामाजिक-विधानो की पहले एक अध्याय में चर्चा कर आये हैं जिनके पारित होने से स्त्री की

स्थिति मे बहुत फर्क पड गया है। कोई समय था जब यहाँ सती-प्रथा थी। इनके अलावा बाल-विवाह, विधवापन, अनमेल विवाह—ये सब भारतीय नारी के जीवन को कडवा बनाने के लिए बहुत काफी हैं। इन सब की तरफ़ अब समाज का ध्यान जा रहा है, और ऐसे विधान बन रहे हैं जिनसे इस स्थिति मे सुधार हो रहा है।

(ख) मातृ-सदन—स्त्रियो की सबसे बडी समस्या मातृत्व की है। अपने देश मे प्रथम-प्रसव का समय जीवन-मरण का समय समझा जाता है। प्रशिक्षित दाइयो की हजारो की सख्या मे जरूरत है। राज्य के कल्याण-बोर्डों की तरफ से गाँवो में ऐसे केन्द्र खोले जाने की व्यवस्था है जहाँ प्रसव की सब सुविधा दी जाय और प्रसव के बाद जच्चा-बच्चा का ख्याल रखा जाय। इस दृष्टि से मातृ-सदन खोलना समाज-कल्याण का बडा भारी काम है। इसके साथ-साथ स्त्रियों के मनोरजन के साधन उपस्थित करना भी कई सस्थाएँ कर सकती हैं।

(ग) आर्थिक-उद्योग—गाँवो तथा शहरो दोनो स्थानो मे मध्य-वर्ग की स्त्रियो के लिए कुछ ऐसे उद्योग खोलना या उन्हे ऐसा प्रशिक्षण देना जिससे अपने फालतू समय मे वे कुछ कमा सकें और परिवार की आर्थिक-सहायता कर सकें—यह भी स्त्रियो के सामाजिक-कल्याण के लिए आवश्यक कदम है। जिस समय पुरुष अपने काम-धधे पर चला जाता है, बच्चे पढने चले जाते हैं, उस समय स्त्री के लिए करने को कुछ नही रहता। ऐसे समय का उपयोग करने के लिए कुछ ऐसे उद्योग खोले जा सकते हैं जिनमे कमाई भी हो जाय, समय का भी सदुपयोग हो जाय। जो स्त्रियाँ मेहनत-मजदूरी पर निर्भर करती हैं उनके लिए भी कुछ ऐसे उद्योग खोले जा सकते हैं, जो उन्ही के अनुकूल हो।

(घ) नैतिक-सुधार—समाज-कल्याण का एक बड़ा क्षेत्र नैतिक-सुधार का है। स्त्रियो को अनैतिक-कार्य मे अपने समाज मे धकेला जाता है। इसी का दुष्परिणाम वेश्या-वृत्ति है। १६५० में राष्ट्र-सघ के निश्चय के अनुसार ससार से वेश्या-वृत्ति को दूर करने के लक्ष्य पर

भारत ने भी हस्ताक्षर किए थे, अत. वेश्या-वृत्ति को दूर करना हमारा लक्ष्य तो कभी का बन चुका है। इसी दृष्टि से स्त्रियो के इस अनैतिक-व्यापार की छान-बीन करने के लिए २४ दिसम्बर १९५४ को 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड' ने 'सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य सलाहकार समिति' की स्थापना की थी। इस समिति के सदस्यो ने देश मे जगह-जगह जाकर वेश्या-वृत्ति के कारणो की जाँच की। अपनी जाँच के आधार पर समिति ने जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसका निचोड यह था :—

(i) व्यभिचार को बन्द करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे व्यापक कानून नही हैं। इस घृणित व्यापार को चलाने वाले अक्सर कानून के शिकंजे से बच निकलते हैं। जो कानून चगुल में फॅस जाते हैं वे भी कानून के जरिये ही थोडा-बहुत ले-देकर बरी हो जाते हैं। इसलिए वेश्यावृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक व्यापक कानून बनाना चाहिए।

(ii) सारे देश मे व्यभिचार के व्यापार को चलाने वालो का एक जाल-सा बिछा हुआ है। जब तक दृढतापूर्वक इसे सरकारी तौर पर नही रोका जाता तब तक यह नही रुक सकता।

(iii) यद्यपि वेश्या-वृत्ति नगरो की समस्या है, तो भी इस व्यापार के लिए अधिकतर लडकियाँ गाँवो से भगाई जाती हैं। ६६.५ प्रतिशत वेश्याएँ देहाती होती हैं। ५५ ४ प्रतिशत वेश्याएँ आर्थिक-कारणो से यह धधा करती हैं, २७ ७ प्रतिशत घरेलू झगडों, बेमेल विवाहो, विधवापन आदि के कारण इधर आ भटकती हैं, १६.९ प्रतिशत प्रचलित सामाजिक प्रथाओ के कारण यह पेशा अपनाती हैं।

इस रिपोर्ट के आधार पर दिसम्बर १९५६ मे पार्लियामेट में एक बिल पेश हुआ जिसका नाम था—'स्त्रियो तथा लडकियों के अनैतिक व्यापार का अवरोध' (Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Bill, 1956)। दिसम्बर १९५६ मे ही यह स्वीकृत होकर अधिनियम बन गया। उसका उद्देश्य स्त्रियो तथा कन्याओ

के अनैतिक व्यापार को रोककर वेश्या-वृत्ति को बन्द करना है। समाज-सुधारको का कहना है कि यह अधिनियम इतना व्यापक नही है जिससे यह धधा पूरी तरह से रुक सके, इसलिए इसे और अधिक कडा करने की जरूरत है।

ये थोडी-बहुत समस्याएँ हैं जिनका स्त्री-जाति से सम्बन्ध है। समाज-कल्याण की कोई भी सस्था इन दिशाओ मे से किसी एक दिशा मे भी काम करके श्रेय की भागी बन सकती है।

[बच्चों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

बच्चो के बड़े होने से ही समाज बनता है, इसलिए बच्चो की समस्याओ पर परिवार, समाज तथा राज्य—इन तीनो को ध्यान देना चाहिए। वैसे तो इन तीनो को बच्चो के प्रश्नो को अपने-अपने स्तर पर हल करना ही है, परिवार को उत्तम, हृष्ट-पुष्ट तथा उतने ही बच्चे पैदा करने हैं जितनो की वह परवरिश कर सकता है, समाज को उनके लिए उत्तम परिस्थिति उत्पन्न करनी है ताकि उनके सस्कार शुद्ध बने, राज्य को उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना है, परन्तु कई ऐसी भी दिशाएँ हैं जिनकी तरफ समाज-कल्याणकारी सस्थाएँ अपना ध्यान दे, तो बच्चो की अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं। उन्ही का हम यहाँ उल्लेख करेंगे—

(क) **पौष्टिक-भोजन** (Nourishment)—कई बच्चो का पौष्टिक-भोजन न मिल सकने के कारण विकास नही हो पाता। माता-पिता ग़रीब हैं—इसलिये वे घर मे उन्हे दूध-घी दे नही सकते, दूसरा उनके लिये कोई रास्ता नही। ऐसे बच्चो को पाठशाला मे दूध देना, विटामिन की गोलिया देना—ये सब काम समाज-कल्याण सस्थाएँ कर सकती हैं। दूध आदि इकट्ठा करने का काम सार्वजनिक चन्दे से तथा ट्रस्टो के अनुदान से हो सकता है।

(ख) **हीन-बुद्धिता** (Feeblemindedness)—इस समय सब तरह के बालक एक-साथ पढते हैं, कुशाग्र-बुद्धि तथा हीन-बुद्धि। हीन-बुद्धि

बालकों को अलग छोडकर उनके लिए पढाई की अलग व्यवस्था करना जरूरी है ताकि उन पर विशेष ध्यान दिया जा सके। कुशाग्र-बुद्धि बालकों के साथ हीन-बुद्धि बालकों के पढने से वे और धिक हीन-बुद्धि हो जाते हैं। इस दिशा में समाज-कल्याण-संस्थाएँ बहुत अच्छा कार्य कर सकती हैं।

(ग) **बाल-परामर्श-केन्द्र** (Child guidance clinics)—बच्चों को अपने विकास की ठीक दिशा बतलाने के लिए तथा माता-पिता को बालक की मानसिक प्रवृत्ति बतलाने के लिए परामर्श-केन्द्र खुलने चाहिएँ, नहीं तो बच्चे आँखें बन्द करके जीवन के मार्ग पर चलते है। इस तरह का केन्द्र हर राज्य में एक तो होना ही चाहिए, और अगर हर शहर में एक हो सके, तो और अच्छा है। समाज-कल्याण-संस्थाओ को इस दिशा में भी अग्रसर होने की जरूरत है।

(घ) **शिशु-गृहों की व्यवस्था** (Creches)—१६४८ के फैक्टरी-एक्ट के अनुसार जिस कारखाने में २५० या इससे ज्यादा स्त्रियाँ काम करती हैं वहाँ शिशु-गृह का होना लाजमी है, इसलिए बडी फैक्टरियों मे तो शिशु-गृहों की व्यवस्था है, परन्तु इस व्यवस्था को समाज-कल्याण का कार्य करने वाली सस्थाएँ अधिक व्यापक बना सकती हैं। माता काम भी करे, बच्चे की देख-भाल भी करे—ये दो काम एक-साथ नही हो सकते, इसलिए जहाँ-जहाँ स्त्रियाँ काम करती हैं, वहाँ-वहाँ सब जगह शिशु-गृहो की व्यापक व्यवस्था होनी चाहिए।

(ङ) **खेलों का प्रबन्ध** (Play activities)—बालक के विकास के लिए खेलना अत्यन्त आवश्यक है। शहरो में इतना तंग स्थान होता है कि बालक गलियों तथा सडकों पर ही गेंद-बल्ला चलाते देखे गए हैं। वैसे तो म्यूनिसिपैलिटियों का कर्तव्य है कि बालकों के खेलने के मैदानों की व्यवस्था करें, अगर वे नही करते, तो इस दिशा में जनता में इस बात की माँग पैदा करना और जहाँ तक हो सके वहाँ तक

आन्दोलन करके इस बात का प्रबन्ध कराना समाज-कल्याण संस्थाएँ कर सकती हैं ।

(च) बालकों के केन्द्र (Children's centres)—बालको के लिए जहाँ क्रीडा-केन्द्र खोलने की जरूरत है, वहाँ ऐसे बाल-केन्द्र भी खोलने की जरूरत है जिनके द्वारा बालको को इन-डोर खेल खेलने का अवसर मिले, उनके योग्य पुस्तकालय हो, वे ड्रामा आदि कर सके, चित्र, कला सगीत आदि सीख सके। समाज-कल्याण-सस्थाओ के लिए काम करने का यह भी अच्छा क्षेत्र है। इस दिशा मे बालकान-जी-बारी, बालको की बिरादरी, किशोर-दल आदि सगठन अच्छा काम कर रहे हैं। वे बालको के कैम्प भी लगाते हैं जिनमे भिन्न-भिन्न शहरो के बालक इकट्ठे होते हैं, आपस मे मिलते है, इससे एक-दूसरे के निकट आने और एक-दूसरे को समझने का उन्हे अच्छा अवसर मिलता है।

(छ) युवापराध (Juvenile delinquency)—गरीबी, पारिवारिक-विगठन, बुरी सगत आदि कारणो से बालापराध तथा युवापराध—ये दोनो बच्चो की गम्भीर समस्याएँ हैं। इन समस्याओ को हल करने के लिए युवा-सुधार-गृह (Reformatories) खोलने की आवश्यकता है। यह काम सरकार भी कर सकती है, जनता के सहयोग से समाज-कल्याण का कार्य करने वाली सस्थाएँ भी कर सकती हैं।

[बाधितों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

'बाधित' (Handicapped) व्यक्ति बच्चे भी हो सकते हैं, युवा भी हो सकते हैं। समझा यह जाता है कि बाधित-व्यक्ति समाज के किसी काम का नही, या उसे इस योग्य नही बनाया जा सकता कि वह समाज के किसी काम आये। यह गलत धारणा है। अष्टावक्र ऋषि के शरीर मे आठ बल पडे हुए थे, परन्तु वे भारत के महान् ऋषि थे। महाराजा रणजीतसिंह के एक आँख नही थी, परन्तु उन जैसे बुद्धिमान राजा कम हुए हैं। प्रेजीडेंट रूजवेल्ट तथा लार्ड वेवल लगडे थे, परन्तु कूट राजनीतिज्ञ थे। एडीसन बहरे थे परन्तु उन्होने ससार को ग्रामोफोन दिया,

बीथोवेन भी बहरे हो गए थे किन्तु वे संसार के प्रसिद्धतम गायक हो गए, डिमोस्थनीज हकलाते थे परन्तु वे अद्वितीय वक्ता थे। असल में, बाधित व्यक्तियों के जीवन के विकास की धारा शारीरिक-दिशा में तो रुक जाती है, परन्तु उतने ही वेग से मानसिक-दिशा में फूट निकलती है।

समाज में दो प्रकार के अपंग या बाधित व्यक्ति पाये जाते हैं—(१) मनोबाधित (Mental cripples), तथा (२) शरीरबाधित (Physically cripples)। इनमें से शरीर-बाधित तीन प्रकार के हैं—(क) चक्षु-विहीन (Blind), (ख) बधिर तथा मूक (Deaf and dumb) तथा (ग) अंग-विहीन बालक (Orthopaedic cripples)। अंग्रेज़ी मे औरथौस (Orthos) का अर्थ है—'ठीक'—तथा पेस (Pais) का अर्थ है—'बालक'। 'ठीक बालक की अग-हीनता'—इस शब्द का अर्थ हुआ। इस प्रकार का अग-हीन व्यक्ति जैसा हमने अभी कहा, बालक भी हो सकता है, युवा भी हो सकता है।

व्यक्ति की बाधित दशा के चार कारण हो सकते हैं—(१) जन्म, (२) रोग, (३) दुर्घटना तथा (४) रोगादि के कारण अग-छेद अर्थात् अङ्ग काट देना। कभी-कभी बच्चा जन्म से अन्धा होता है, अन्धा नहीं तो बहरा तथा गूँगा होता है, या जन्म से ही उसका कोई अन्य अग नहीं होता। कभी-कभी ये बाधाएँ किसी रोग से उत्पन्न हो जाती हैं। चेचक से अन्धा हो जाना साधारण-सी बात है। कभी-कभी किसी दुर्घटना से कोई मानसिक या शारीरिक क्षति हो जाती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी हाथ-पैर काट देना पड़ता है।

बाधित बच्चों या युवाओं के प्रति समाज की तीन तरह की धारणाएँ दिखाई देती हैं—(१) पहली धारणा तो घृणा की है। अन्धा हो, काणा हो, लूला हो, लगड़ा हो—समाज के अधिकाश व्यक्ति यह समझते हैं कि ये समाज के लिए सर्वथा शून्य के समान हैं। इस प्रकार की धारणा से इन बाधितों के हृदय को जो चोट पहुँचती है उसे बाधित व्यक्ति ही

समझ सकता है। इससे उनके हृदय मे हीनता की भावना स्थिर रूप से जम जाती है। (२) दूसरी धारणा दया की है। समाज के कुछ व्यक्ति इस प्रकार के बाधितो के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं, उनके लिए दान देते हैं। लूले-लगडे भीख माँगते हैं, और दयालु-हृदय के लोग उनकी झोली मे दो-चार पैसे डाल देते हैं। इनसे बाधितो मे आत्म-सम्मान की भावना नही रहती, पर-निर्भरता उनके जीवन का सूत्र बन जाती है। (३) तीसरी धारणा बाधितो में **आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न करने** की है। इस धारणा के अनुसार बाधित व्यक्ति चाहे बच्चा हो, चाहे युवा हो, समाज का ठीक वैसे ही अग है, जैसे दूसरा कोई। इस धारणा को मानने वालो का कहना है कि अगर बाधितो को चिकित्सा तथा शिक्षा सम्बन्धी पूरी-पूरी सुविधाएँ दी जाँय, तो वे समाज मे अन्य व्यक्तियो जैसा ही जीवन बिता सकते हैं। समाज-कल्याण के क्षेत्र मे विचार करने वालो के विचार की यह तीसरी दिशा है।

बाधितो के सम्बन्ध मे हम लोग समाज-कल्याण के क्षेत्र मे क्या-क्या कर रहे तथा कर सकते हैं इस सम्बन्ध मे थोडा-सा विचार कर लेना असंगत न होगा—

(क) मानसिक-बाधित—यद्यपि मानसिक-बाधित कभी भी स्वस्थ व्यक्ति का जीवन व्यतीत नही कर सकता, तो भी अगर उस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय, तो सुख-पूर्वक जीवन जरूर व्यतीत कर सकता है। अमरीका मे ५० साल से मानसिक-बाधित बच्चो के स्कूल खोले जा रहे हैं, ब्रिटेन मे १९५४ में १९४५९ बाधित लडके लडकियों को शिक्षा देने के लिये २१७ स्कूल खुले हुए थे जिनमे प्रति बालक २०० से ३०० पौंड तक व्यय किया जा रहा था। इङ्गलैण्ड मे स्टौरब्रिज मे सनफ़ील्ड नाम का प्रसिद्ध स्कूल है जो १९३० मे स्थापित हुआ था। इसमे ऑस्ट्रिया के डा० रूडोफ स्टीनर (Dr. Rudof Steiner) की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार बाधित बच्चो की देख-रेख की जाती है। डॉ स्टीनर की पद्धति के अनुसार बच्चो को

ऐसी परिस्थिति में रखा जाता है जिसमें वे भूल जाते हैं कि उनमें किसी प्रकार की कमी है, उनमे हीनता की भावना उत्पन्न नही होने दी जाती, उन्हें हाथ का काम विशेष रूप से सिखाया जाता है। इस प्रकार के स्कूल समाज-कल्याणकारी सस्थाएँ खोलकर समाज-कल्याण के क्षेत्र मे सबसे उत्तम काम कर सकती हैं।

(ख) शारीरिक-बाधित (अन्धे)—१६३१ के बाद से भारत में अन्धों की सख्या नही ली गई। १६३१ मे यहाँ ६ लाख अन्धे थे। सबसे पहले अन्धो का स्कूल अमृतसर में १८८७ में स्थापित हुआ। १६५६ तक भारत मे ५० के लगभग अन्ध-विद्यालय स्थापित हो चुके हैं। इन स्कूलों में सिर्फ २००० विद्यार्थियों की देख-रेख हो रही है। बाकी अन्धे अपने कर्मों को रोते सिर पटकते रहते हैं। नर्सरी-स्कूल मे जाने लायक बच्चों के लिये तो भारत भर में १६५६ तक सिर्फ एक स्कूल था—दक्षिण-भारत के पालम कोट्टा जगह पर और वहाँ भी कुल ५ से कम आयु के ४ बच्चे शिक्षा पा रहे थे।

कई बच्चे जन्मान्ध होते हैं, कई विटामिन की कमी के कारण अन्धे हो जाते हैं, कई बीमारियो से, कई पैदायश के समय की माता की असावधानी से, कई आँख आने पर गलत दवा डाल देने से। जिस तरह से भी कोई अन्धा हुआ हो, समाज की उसके प्रति प्रतिक्रिया उसके जीवन को बना या बिगाड देती है। हमे ऐसे स्कूल स्थापित करने होंगे जिनमे ऐसे बच्चों को जो शारीरिक आँख से नही देख सकते परन्तु प्रज्ञा की आँख से देख सकते हैं, अपना विकास करने योग्य बनाया जा सके। महर्षि दयानन्द के गुरू विरजानन्द सरस्वती प्रज्ञा-चक्षु थे, परन्तु वे व्याकरण और वेदो के अगाध पडित थे, मिल्टन प्रज्ञा-चक्षु थे, परन्तु पैरेडाइज लौस्ट के लेखक के रूप में महान् कवि हुए। क्योंकि कोई अन्धा है, इसलिये वह कुछ नही कर सकता—यह कितनी भ्रान्त धारणा है। सत्य तो यह है कि आँखो के न होने से मनुष्य बहिःवृत्ति नहीं रहता, वह अन्तःवृत्ति हो जाता है, ध्यान को अधिक केन्द्रित कर सकता

है, और समाज के लिये न-जाने कौन-सा अन्ध-व्यक्ति किस नई उपज को लाकर दे सकता है।

१९४८ तथा १९५० में बम्बई में अन्धों की समस्याओं पर विचार करने के लिए अखिल-भारतीय-कान्फ्रेंसें हुई थीं। १८-२३ अप्रैल १९५५ में मसूरी मे इसी प्रकार की एक कान्फ्रेंस हुई जिसका उद्घाटन अमरीका की प्रसिद्ध प्रज्ञा-चक्षु श्रीमती डा० हैलन कैल्लर (Helen Keller) ने किया। इन कान्फ्रेंसो मे अन्धो की समस्याओ पर विशेष बल दिया गया, उनके बनाये सामान की प्रदर्शिनी की गई। अन्धो के पढने की पद्धति को ब्रैले-पद्धति (Braille System) कहते हैं। उनके पढने की खास तरह की पुस्तकें होती हैं जिन्हें हाथ से छूकर पढ़ा जाता है। इस उद्देश्य से देहरादून में एक केन्द्रीय-ब्रैले-प्रेस (Central Braille Press) भी है जहाँ ऐसी पुस्तकें छपती हैं। देहरादून मे अन्धों को प्रशिक्षण देने के लिए एक 'युवा-प्रशिक्षण-केन्द्र' (Adult Training Centre for the Blind) भी है।

(ग) शारीरिक-बाधित (बहरे तथा गूंगे)—१९३१ की गणना के अनुसार भारत में ७ लाख बहरे थे, जिनमे से बहरे बच्चे २,३०,००० तथा ३५०० स्कूल जाने की आयु के थे। उसके बाद कोई गणना नहीं ली गई। १९५७ तक बहरो के ४४ स्कूल खुल चुके थे जिनमे २००० के लगभग बालक शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इनमे से पहला स्कूल १८९४ मे बम्बई मे खोला गया। १९५५-५६ में ५० बधिरो को सरकार द्वारा मान्यता-प्राप्त बधिर-शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र-वृत्ति दी गई थी। द्वितीय-पँच-वर्षीय-योजना मे बधिरों के लिए एक 'प्राविधिक-प्रशिक्षण-केन्द्र' (Technical Training Centre) खोलने की योजना है जिसमे शुरू मे १०० नवयुवक भर्ती किये जायेंगे। इस केन्द्र पर १७ लाख रुपया खर्च किया जायगा। अनुभव बतलाता है कि बधिर व्यक्ति ऐसी मशीनो को जिनके चलाने में कुशलता की जरूरत हो, अन्य व्यक्तियों से बहुत अच्छा चला लेते हैं। कलकत्ता के मुद्रणालयों मे जहाँ

बधिर व्यक्ति कम्पोजीटरों का काम करते हैं यह देखा गया है कि वे अन्यों की अपेक्षा अच्छा और अधिक काम करते हैं। इसका कारण यही है कि सुन न सकने के कारण वे अपना समय बातचीत में नही खोते और काम किये जाते हैं।

१६-२४ सितम्बर १६५५ में मसूरी में भारत के शिक्षा-मंत्रालय की तरफ से बधिरों की समस्याओ पर विचार करने के लिए एक कान्फ्रेंस हुई थी जिसमें सरकार की तरफ से बताया गया कि सरकार ने कई व्यवसायो मे बधिरों को भर्ती करने का निश्चय किया है। द्वितीय-पँच-वर्षीय योजना में ३००० बधिर व्यक्तियो को काम पर लगाया जायगा। समाज-कल्याणकारी सस्थाएँ ऐसे व्यक्तियो की गणना लेकर उन्हें सरकारी कामो में लगवा सकती हैं। इंगलैण्ड मे तो हर कार्य-नियोजन-कार्यालय मे एक विशेष-अधिकारी होता है जिसे 'बाधित व्यक्तियो का पुन संस्थापक अधिकारी' कहते हैं। इसका काम अन्धे, गूँगे, बहरों को काम दिलाना होता है। ऐसी व्यवस्था अपने देश मे भी होने की आवश्यकता है।

(घ) **शारीरिक-बाधित (अंग-विहीन)** अग-हीन अवस्था जन्म के कारण हो सकती है, रोग, दुर्घटना तथा रोगादि के कारण अग का छेदन कर देने से भी हो सकती है। अधिकतर अग न होने, काट दिये जाने या कट जाने से हमारे समाज मे भीख माँगने के सिवाय कोई चारा नही रहता। भीख माँगने की समस्या अग-हीनों के कारण विकट रूप धारण कर जाती है। परन्तु आजकल प्राय सभी अगों के कृत्रिम अग बनते हैं जिनसे व्यक्ति की अपगता उतनी कष्ट-दायक नही रहती। लगड़े बैसाखी से चलते हैं, लूलो के लिए भी हाथ-के-से उपकरण निकल आये हैं। इन उपकरणो को अधिक सस्ता करने की जरूरत है। इस दिशा में समाज-कल्याणकारी सस्थाएँ ध्यान दें, तो मानव-समाज का बहुत बडा क्षेत्र, जो अभी निकम्मा समझा जाता है, समाज के काम तो आ ही सकता है, इसके साथ उन लोगो में अपने प्रति जो ग्लानि की भावना

उत्पन्न हो जाती है उसे भी उन्हे उपयोगी कामों में लगाकर दूर किया जा सकता है।

[कुष्ठ-पीड़ितों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

इस समय देश मे १५ से २० लाख के लगभग कुष्ठ-रोगी हैं। इस रोग से लोग इतने घबराते हैं कि कोई कोढी को पास खडा होने नहीं देना चाहता। समझा यह जाता है कि इन्फ्लुएञ्जा की तरह यह फैलने वाला रोग है। असल मे, ऐसी बात नहीं है। यह रोग न तो आनुवंशिक है, न इसका गर्मी या प्रमेह से कोई सम्बन्ध है। यह एक तरह की छूत की बीमारी है परन्तु इसकी छूत धीरे-धीरे देर तक कुष्ठ-रोगी के साथ रहने से लगती है। बडो की अपेक्षा बच्चों को आसानी से इसके कीटाणु पकडते हैं। वह भी छूत लगने से ५ से १५ वर्ष के पीछे इनका असर दिखाई देता है, इसलिए कुष्ठ-रोगी के साथ जिस समय सम्पर्क हुआ हो, उसके वर्षों बाद इसके कीटाणु अपना प्रभाव दिखा सकते हैं। सम्भवतः इसीलिए कोढी से लोग इतना परहेज करते हैं। कोढ हो जाना मानो मरने से पहले मर जाना है। कोढी अस्पताल में जाकर ठीक भी हो जाय, आगे बीमारी नही फैलेगी इसका प्रमाण-पत्र भी ले आये, तो भी जिसको एक बार कोढ हो गया, उसे भला-चगा होने पर भी रिश्तेदार तक परिवार मे शामिल नही करते। यह बीमारी इतनी भयंकर नहीं जितना इस बीमारी से पैदा होने वाला सामाजिक-बहिष्कार भयकर है। ऐसी हालत मे समाज-कल्याण की दिशा में कार्य करने वालों का कर्तव्य है कि कुष्ठ के विषय मे वास्तविक स्थिति को समाज के सामने स्पष्ट करके रखे।

वास्तविक-स्थिति यह है कि रोग की शुरूआत मे इसका इलाज हो सकता है। तुबरक तेल (चेलमुग्रे का तेल) सूई द्वारा रोगी की मास-पेशी में डाला जाता है और सल्फ़ोन नामक टिकियाँ खिलाई जाती हैं। इससे रोग अच्छा हो जाता है। परन्तु रोगी शुरू मे इसका इलाज न करके इसको छिपाता है। इसे छिपाने की अवस्था ही ऐसी है जब

इसका इलाज हो सकता है, और इसी अवस्था में यह फैलता भी है। जो रोगी हम रोज-मर्रा बाजारो मे देखते हैं, जिनकी अँगुलियाँ गल जाती हैं, नाक बैठ जाती है, मुँह पर एक अजीब तरह की मुर्दानगी छा जाती है, उस अवस्था मे रोगी की हालत जल चुके मकान की तरह की होती है। वह तो जल चुका, राख हो चुका, अब वह भयकर जरूर लगता है, परन्तु उससे आग नही फैलती। आग तो तब फैलती है जब उसकी लपटें उठ रही होती हैं। दुःख यही है कि उस हालत में लोग इसे छिपाये रहते हैं, और अपने घर में ही अपने बीबी-बच्चो को, साथ के पडोसियो को आग लगाते रहते है।

कुष्ठ का इलाज करने के लिए द्वितीय-पँच-वर्षीय योजना मे अनेक कुष्ठ-धाम बनाये जाने की व्यवस्था है। समाज-कल्याण-संस्थाएँ यह काम अपने हाथ मे ले सकती हैं।

[पिछड़ी जातियों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

भारत की जाति-व्यवस्था के परिणामस्वरूप हमारे देश मे एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है जिसे पिछड़ी जातियो के नाम से पुकारा जाता है। कई लोग इन्हें हरिजन कहते हैं। जाति-व्यवस्था का अर्थ है—ऊँच-नीच का भेद! इसी भेद के पर आधार पिछडी जातियाँ, जगली जातियाँ, जरायम पेशा जातियाँ, अछूत जातियाँ—इस तरह की भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनका आधार आर्थिक तथा सामाजिक है।

'सविधान' के तीसरे हिस्से की धारा १७ के अनुसार अछूतपन को अवैधानिक करार दे दिया गया है, परन्तु फिर भी यह भावना हमारे सगठन में इतनी रची-मिची है कि जब तक हमारे मनो मे से यह भावना नही मिट जाती तब तक सिर्फ कानून बन जाने से कुछ नही हो सकता। फिर भी इस भावना को मिटाने के लिए इन जातियो को, जिन्हें परिगणित जाति का भी नाग दिया जाता है, विशेष अधिकार दिये गए हैं। लोक-सभा तथा विधान-सभाओं में इनकी

सीटें सुरक्षित रखी गई हैं, हर ऊँचे पद के लिए इन्हें अन्यों की अपेक्षा कम योग्यता होने पर भी स्थान दिया जाता है। इस सबका उद्देश्य है कि अब तक जिन निर्योग्यताओ के ये शिकार रहे हैं उनके दुष्परिणामों से उन्हे बचाया जाय।

इस समय परिगणित जातियो की सख्या ७७९ है, और इन ७७९ जातियो मे व्यक्तियो की सख्या ४९८.३७ लाख है। प्रथम-पँच-वर्षीय योजना मे इनके कल्याण के लिये ३९ करोड रुपया रखा गया था, द्वितीय योजना मे ९१ करोड रुपया रखा गया है। इस रुपये का सदुपयोग समाज-कल्याण-सस्थाओ के सहयोग से ही हो सकता है।

जगली-जातियो के विषय मे दो बाते ध्यान देने की हैं। इनका अध्ययन हम लोग दो तरह से करते हैं। कई लोग तो सिर्फ प्राचीन-मानव के अध्ययन के रूप मे इन जातियो का अध्ययन करते हैं। मानो ये किसी चिडियाघर के जानवर हो। ऐसे अध्ययन मे सहानुभूति की मात्रा नही रहती। दूसरा अध्ययन सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन है। ये जगली जातियाँ चिडियाघर के जानवर नही, हम जैसे ही मानव-समूह है। इन को सहायता देने के लिये इनमे घुल-मिल जाने की, इनके साथ सहानुभूति प्रकट करने की आवश्यकता है। इन्हे यह अनुभव नही होना चाहिये कि उनके ऊपर कोई विचार, कोई सभ्यता थोपी जा रही है। ईसाई पादरी क्या करते थे? वे इन जातियो के बीच उन जैसे बन कर बस जाते थे। समझा यह जाता है कि इनके लिये सडकें बना देना, इनके लिये स्कूल और अस्पताल खोल देना काफी है। यह बात नही है। हम स्कूल खोलें, सडकें बनाये, अस्पताल जारी करे, परन्तु साथ ही इनके जीवन में घुल-मिल जाँय, तभी हम समाज-कल्याण की दृष्टि से सफल कदम उठा रहे होंगे।

ऊपर हमने समाज-कल्याण के कार्य की जो रूप-रेखा दी है, उसके अतिरिक्त युवक-आन्दोलन, अपराध-निरोध, भीख-निवारण आदि अनेक

कार्य हैं जो समाज-कल्याण की दृष्टि से किये जा सकते हैं। इस मार्ग पर जो संस्था चल पड़ती है उसे प्रोग्राम की कमी नहीं रहती।

प्रश्न

१. केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड तथा राज्य-परामर्श-बोर्ड के क्या-क्या कार्य हैं?
२. समाज-कल्याण के कार्यों की रूप-रेखा लिखिये।

अशुद्धि-शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	२०	परिशिष्ट	प्रश्न-पत्र
६६	१४	जाति-प्रथा	जाति-व्यवस्था
८१	५	(२)	(ख)
८१	२२	(३)	(ग)
८५	१२	पर्वाह	परवाह
६६	१,२२	प्रजापत्य	प्राजापत्य
१००	१	असुर	आसुर-
११७	२१	आस्मान	आसमान
१७७	१	पचायतों में उत्साह और	×
२०६	१६	योग	इस कॉलम में जो योग दिया गया है वह पहले तथा दूसरे नक्शे—दोनों का योग है
२०६	२०	६०३	६.३३
२०६	२२	८.६	८.६१

१९५९ के इन्टर के समाज-शास्त्र का द्वितीय प्रश्न-पत्र

सब प्रश्नों के समान अङ्क हैं। किन्ही पाँच प्रश्नो के उत्तर दीजिए।

१. जाति-व्यवस्था की परिभाषा कीजिए और यह बतलाइये कि हिन्दुओ की जाति-प्रणाली की कौन सी विशेषताये भारतीय मुसलमानो मे मिलती हैं ?

२. जातिवाद (Casteism) से आप क्या समझते हैं ? इसके विकास के कारणो व सामाजिक प्रभावो पर प्रकाश डालिए। क्या इसे दूर करने के लिए जाति-प्रणाली को समाप्त करना अनिवार्य है ?

३. किन आधारो पर आप एक परिवार को सयुक्त परिवार कह सकते हैं ? भारतीय सयुक्त परिवार के ढाचे मे क्या परिवर्तन हो रहे हैं ? इन परिवर्तनो के कारणो पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

४. भारतीय कबीलो, मुसलमानो और हिन्दुओ के विवाह के उद्देश्यो और नियन्त्रणो या निषेधो की तुलना कीजिए।

५. हिन्दुओ, ईसाइयो और मुसलमानो मे विवाह-विच्छेद से सम्बन्धित नियमो की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

६. बाल-विवाहो को रोकने के लिये सरकार ने कौन-कौन से कानून बनाए और इन कानूनो मे क्या दोष थे ? क्या भारत मे बाल-विवाहो की सख्या इन कानूनो की वजह से ही घट रही है ?

७. भारतीय ग्रामीण समुदायो की विशेषताये बतलाइए और इनमें परिवर्तन लाने वाले कारणो और उनके प्रभावो की व्याख्या कीजिए।

८. भारतीय मजदूरो मे मातृत्व संरक्षण (Maternity protection) के लिए सरकार ने कानूनो के द्वारा किस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की हैं ? क्या आपके दृष्टिकोण से इन कानूनो मे सुधार होने की आवश्यकता है ?

९. सामुदायिक विकास योजनाओ के कार्यक्रम पर प्रकाश डालिए। ग्रामों की उन्नति करने में इस कार्य-क्रम से कहाँ तक सफलता मिली है ?

१०. 'एक व्यक्ति की निर्धनता ईश्वर की देन है।' भारतीय निर्धनता के आधार पर इस कथन की समालोचना कीजिए और इसको दूर करने के उपाय बतलाइए।